

अष्टोत्तरशतोपनिषद्

संन्य स—उप नेष ::

श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचितव्याख्यायुताः

अडयार्—पुस्तकालयस्थः पण्डितः सहकृतेन

टि. आरू. चिन्तामणि-ीक्षितेन

संपादिताः

अडयार्—स्तकालयार्थे

प्रकटीकृताश्च

ॐ नमो
ब्रह्मादिभ्यो
ब्रह्मविद्यासंप्रदायस्य
वंशकृषिभ्यो
नमो गुरुभ्यः

**DEDICATED TO
Brahma and the Rishis,
The Great Teachers
Who handed down Brahmavidya
through Generations**

PREFACE

WITH this volume the Adyar Library finishes the publication of the Minor Upaniṣads, 93 in number, with the commentary of Upaniṣadbrahmayogin, which was undertaken by my predecessor the late Pandit A. Mahadeva Sastri. He had published four volumes, and I now issue the fifth volume containing the Saṁnyāsopaniṣads. I have closely followed the plan of the previous volumes. The book was seen through the press by the Pandits of the Adyar Library, who have worked with my predecessor in the publication of the previous volumes, and also by the assistant librarian, Mr. T. R. Chintamani, M.A. The Library does not intend at present to issue the ten Major Upaniṣads with the commentary of Upaniṣadbrahmayogin. The Library contains about 75 Upaniṣads more, nearly all of them yet unpublished. The Library will very soon issue all these Minor Upaniṣads, along with any more that may be available from outside.

C. KUNHAN RAJA,

Hon. Director.

अस्मिन् सम्पुटे अन्तर्गतानां पणिषदां सूची

| संख्या | उपनिषद्नाम | ईशादिसंख्या | पुटसंख्या |
|--------|--------------------------|-------------|-----------|
| १. | अवधूतोपनिषत् . | ७९ | १ |
| २. | आरण्युपनिषत् . | १६ | ९ |
| ३. | कठरुद्रोपनिषत् . | ८३ | १७ |
| ४. | कुण्डिकोपनिषत् . | ७४ | २७ |
| ५. | जाबालोपनिषत् . | १३ | ३८ |
| ६. | तुरीयातीतावधूतोपनिषत् . | ६४ | ५१ |
| ७. | नारदपरिव्राजकोपनिषत् . | ४३ | ५५ |
| ८. | निर्वाणोपनिषत् . | ४७ | १३४ |
| ९. | परब्रह्मोपनिषत् . | ७८ | १४९ |
| १०. | परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् . | ६६ | १६१ |
| ११. | परमहंसोपनिषत् . | १९ | १७१ |
| १२. | ब्रह्मोपनिषत् . | ११ | १७७ |
| १३. | भिक्षुकोपनिषत् . | ६० | १९० |
| १४. | मैत्रेय्युपनिषत् . | २९ | १९३ |
| १५. | याज्ञवल्क्योपनिषत् . | ९७ | २१३ |
| १६. | शाट्यायनीयोपनिषत् . | ९९ | २२२ |
| १७. | संन्यासोपनिषत् . | ६५ | २३६ |

विषय सूचिका

१. अवधूतोपनिषत्

| | |
|--|---|
| अवधूतजिज्ञासा | १ |
| अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः | १ |
| प्रधानगौणावधूतचर्या | २ |
| प्रियादिवृत्तेः पक्षित्वेन वर्णनम् | २ |
| ज्ञानस्य फलम् | ३ |
| अवधूतचर्यानुक्रमणम् | ३ |
| महाव्रतम् | ४ |
| परमार्थसदुपदेशः | ४ |
| श्रवणादिविधानम् | ५ |
| विद्याफलम् | ७ |

२. आरूप्योपनिषत्

| | |
|---------------------------------------|----|
| पारिव्राज्यलक्षणम् | ९ |
| संन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि | १० |
| संन्यासमन्त्रलिङ्गविध्यादि | १२ |
| संन्यासिनामासनादिनियमाः | १३ |
| भिक्षानियमाः | १४ |
| भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः | १४ |

| | |
|--------------------------------|----|
| विद्वन्मन्यामाधिकारः | १५ |
| उपसंहारः | १५ |

३. कठरुद्रोपनिषत्

| | |
|---|----|
| ब्रह्मविद्याध्ययनम् | १७ |
| ब्रह्मविद्याङ्गमन्यामनिरूपणम् | १८ |
| मन्यामक्रमः | १९ |
| मन्यन्तस्य कर्तव्यानि | २० |
| ब्रह्मचर्यलक्षणम् | २१ |
| ब्रह्मचर्यस्य फलम् | २१ |
| ब्रह्मभावावलेः ज्ञानायत्तता | २१ |
| ब्रह्मज्ञानफलम् | २२ |
| एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः समधा भेदः | २५ |
| विद्याफलम् | २५ |

४. कुण्डिकोपनिषत्

| | |
|--|----|
| संन्यासपरिग्रहात्पूर्वं कर्तव्यानामनुक्रमणम् | २७ |
| विदारस्यैव संन्यासाधिकारः | २९ |
| जन्मनिवृत्त्यर्थं संन्यासपरिग्रहः | ३० |
| सैन्यस्तस्य न श्रौतस्मार्ताग्निसेवनम् | ३१ |
| अग्निसेवने प्रत्यवायः | ३१ |
| चित्तमुद्धत्यं प्रणवादिमहावाक्यानामावर्तनम् | ३१ |
| दीक्षानियमाः | ३२ |
| विद्वन्मन्यामनिरूपणम् | ३३ |
| भेदेः स्वात्मव्यपकटनम् | ३४ |
| योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः | ३४ |

| | |
|---|----|
| मविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिः | १३ |
| निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनां मोक्षः | ३६ |

५. जावालोपनिषत्

प्रथमः खण्डः

| | |
|---------------------------|----|
| अविमुक्तोपासनम् | ३८ |
|---------------------------|----|

द्वितीयः खण्डः

| | |
|----------------------------------|----|
| अविमुक्तस्वरूपजिज्ञासा | ४० |
| अविमुक्तोपलब्धिसाधनम् | ४० |

तृतीयः खण्डः

| | |
|------------------------------|----|
| अविमुक्तज्ञानोपायः | ४२ |
|------------------------------|----|

चतुर्थः खण्डः

| | |
|--|----|
| सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा | ४२ |
| आहिताग्निमंन्यासविधिः | ४४ |
| निग्निकसंन्यासविधिः | ४५ |

पञ्चमः खण्डः

| | |
|--|----|
| ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः | ४६ |
| संन्यासेऽभिप्रेतानां कर्तव्यनिरूपणम् | ४६ |

षष्ठः खण्डः

| | |
|--|----|
| पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता | ४७ |
| साम्बरपगमहंसलक्षणम् | ४८ |
| दिगम्बरपगमहंसलक्षणम् | ४८ |

६. तृतीयार्थानावृत्तौपनिषत्

| | |
|---|----|
| तृतीयार्थानावृत्तौपनिषत्, निष्ठाच | ५१ |
|---|----|

७. नारदपरिष्ठाजसोपनिषत्

प्रथमोपदेसः

| | |
|--|----|
| नागदं ग्रनि गौनकादीनां प्रश्नः | ५५ |
| विदेहमुनिल्लामोपायोपदेसः | ५६ |

द्वितीयोपदेसः

| | |
|----------------------------------|----|
| पारिव्राज्यस्वरूपक्रमः | ५९ |
|----------------------------------|----|

तृतीयोपदेसः

| | |
|--|----|
| मंन्यामाधिकारी | ६१ |
| आतुरसंन्यासः | ६२ |
| आतुरमंन्यासविधिः | ६२ |
| देशान्तरस्थाहिताग्नेः संन्यासविधिः | ६३ |
| सतृष्णस्य मंन्यासपरिग्रहे नरकप्राप्तिः | ६३ |
| कैतृष्ण्यमेव संन्यासपरिग्रहे हेतुः | ६४ |
| विद्वत्संन्यासः | ६४ |
| अवैद्यपरिग्रहे प्रत्यवायः | ६६ |
| परिव्राजकानां धर्माः | ६६ |
| यतिचर्या तत्फलं च | ६९ |
| अजिह्वादीनां लक्षणम् | ७० |
| कृतीनां वर्जनीयानि | ७१ |
| कृतिभिरनुष्ठेयानि | ७२ |
| आश्रमन्युसारेण पारिव्राज्यम् | ७२ |

| | |
|---------------------------------------|----|
| यतैरेव मुख्यब्राह्मण्यम् | ७४ |
| पारमहंस्यावधूताश्रमपरिग्रहः | ७५ |

चतुर्थोपदेशः

| | |
|--|----|
| यतिधर्माणां तत्फलस्य चोपन्यासः | ७७ |
| क्रमसंन्यासविधिनिरूपणम् | ८२ |

पञ्चमोपदेशः

| | |
|---|----|
| संन्यासप्रमेदा अनुष्ठानमेदाश्च | ८७ |
| संन्यासचातुर्विध्यम् | ८८ |
| वैराग्यसंन्यासः | ८८ |
| ज्ञानसंन्यासः | ८९ |
| ज्ञानवैराग्यसंन्यासः | ८९ |
| कर्मसंन्यासः | ८९ |
| निमित्तानिमित्तभेदेन कर्मसंन्यासस्य द्वैविध्यम् | ९० |
| कुटीचकादिभेदेन संन्यासः षड्विधः | ९० |
| कुटीचकलक्षणम् | ९१ |
| बहुदकलक्षणम् | ९१ |
| हंसलक्षणम् | ९१ |
| परमहंसलक्षणम् | ९१ |
| तुरीयातीतलक्षणम् | ९२ |
| अवधूतलक्षणम् | ९२ |
| जीवत आतुरस्य क्रमसंन्यासः | ९२ |
| कुटीचकादीनां संन्यासविधिः | ९२ |
| परमहंसादित्रयाणां संन्यासविधिः | ९३ |
| कुटीचकादीनां भिक्षाविशेषः | ९३ |
| तेषां प्राप्यस्थानानि | ९४ |

| | |
|---|-----|
| ब्रह्मानुसन्धानमेव कर्तव्यं, नान्यत् | ९९ |
| अननुसन्धाने पातित्यम् | ९७ |
| तुर्यानां तानां भोजनादिकं अन्यर्दीयेच्छैव | ९८ |
| ब्रह्मविद्भिः | ९८ |
| यत्नां भोजनादिनियमाः | ९९ |
| यत्नेर्जितेन्द्रियत्वम् | १०० |
| यनेः सर्वकर्मप्रगियागः | १०० |
| यनेस्माद्भाग्यधर्माः | १०२ |

षष्ठोपदेशः

| | |
|--|-----|
| माश्रोपायजिज्ञासा | १०४ |
| विद्वद्देशार्गवर्णनादिकम् | १०४ |
| तुर्यानां तत्त्वप्राप्त्युपायः | १०९ |
| तुर्यानां तत्त्वरूपम् | १०७ |
| असञ्चयागः सञ्चयानुष्ठानं च | १०८ |
| विविदिषोः श्रवणादिविधिः | ११० |

सप्तमोपदेशः

| | |
|---|-----|
| यत्तिनियमाः | ११३ |
| कुटीचकादीनां स्नानादिनियमेषु विशेषः | ११५ |

अष्टमोपदेशः

| | |
|--|-----|
| तारकरूपजिज्ञासा | ११७ |
| अन्तःप्रणवादीनां स्वरूपकथनम् | १२० |
| विगाट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम् | १२१ |
| परब्रह्मानुसन्धानम् | १२३ |
| विषादीनां चातुर्विध्यम् | १२४ |

| | |
|--------------------------------------|-----|
| तुयावस्थायाश्चातुर्विध्यम् | १२५ |
| तुर्यतुर्गयो ब्रह्मप्रणवः | १२६ |

नवमोपदेशः

| | |
|--------------------------------------|-----|
| ब्रह्मस्वरूपवर्णनम् | १२७ |
| शान्त्रवेदनफलम् | १२९ |
| ब्रह्मप्राप्तिस्तद्वेतुश्च | १३१ |

८. निर्वाणोपनिषत्

| | |
|---------------------------------------|-----|
| मुख्यावधूतलक्षणम् | १३४ |
| भौणावधूतः तच्चर्या तत्फलं च | १४६ |
| मुख्यावधूतोपायसंपत्तिः | १४७ |
| अधिकारिनिरूपणम् | १४८ |

९. परब्रह्मोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| वरिष्ठा ब्रह्मविद्या | १४९ |
| त्रिपाद्ब्रह्मप्रापकोपायः | १५१ |
| अन्तर्बाह्याशिखादिलक्षणम् | १५४ |
| निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम् | १५५ |
| कर्मणः चित्तशुद्धिप्रापकत्वम् | १५५ |
| मुमुक्षुणा कर्तव्यानि | १५८ |

१०. परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

| | |
|----------------------------------|-----|
| परिव्राजकलक्षणजिज्ञासा | १६१ |
| अधिकारिनिरूपणम् | १६२ |
| निराम्यस्य संन्यासः | १६३ |

| | |
|---|-----|
| ब्रह्मप्रणवम्ब्रह्मपजिज्ञासा | १६६ |
| अयज्ञोऽपर्वानिनां ब्राह्मणत्वम् | १६८ |

११. परमहंसोपनिषत्

| | |
|---------------------------------------|-----|
| परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः | १७१ |
| परमहंसपरिव्राजकानां स्थितिः | १७२ |

१२. ब्रह्मोपनिषत्

| | |
|---|-----|
| चतुष्पाद्ब्रह्म | १७७ |
| परम्य ब्रह्मणोऽक्षरत्वम् | १७९ |
| निर्वाणस्यैकत्वम् | १८० |
| त्रिवृत्सूत्रम् | १८० |
| गहिस्सूत्रम् | १८१ |
| ब्रह्मसूत्रम् | १८१ |
| ज्ञानशिखादीनां मुख्यब्राह्मण्यलिङ्गता | १८३ |
| • क्रियाङ्गसूत्रम् | १८३ |
| निरूपचरितब्राह्मण्यम् | १८४ |
| यज्ञोपवीतयाथात्म्यम् | १८४ |
| ब्रह्मीभूतो विद्वानेक एव | १८५ |
| ब्रह्मात्युपायः | १८६ |

१३. मिथुकोपनिषत्

| | |
|----------------------------|-----|
| चतुर्विधा मिथुवः | १९० |
| कुटीचकाः | १९० |
| कूटकाः | १९१ |

| | |
|--------------------|-----|
| हस्ताः | १९१ |
| परमहंसाः | १९१ |

१४. मैत्रेय्युपनिषत्

प्रथमोऽध्यायः

| | |
|--------------------------------------|-----|
| संसारविग्नस्यात्मजिज्ञासा | १९३ |
| संसारनिर्वेदगाथा | १९३ |
| ब्रह्मणो याथात्म्यप्रकटनम् | १९५ |

द्वितीयोऽध्यायः

| | |
|--|-----|
| मैत्रेयं प्रति महादेवस्योपदेशः | १९९ |
| शौचविधानम् | २०० |
| चित्तशुद्धिः | २०१ |
| अहङ्कारादित्यागः | २०१ |
| कर्मत्यागः | २०२ |
| मुख्यसंन्यासः | २०२ |
| संन्यासाधिकारी | २०३ |
| मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि | २०३ |
| अनुभवः | २०३ |
| परमरहस्योपदेशः | २०४ |
| विदेहमुक्तस्य स्थितिः | २०५ |

तृतीयोऽध्यायः

| | |
|---------------------------------------|-----|
| मैत्रेयस्य स्वानुभवप्रकटनम् | २०६ |
|---------------------------------------|-----|

१५. याज्ञवल्क्योपनिषद्

| | |
|--|-----|
| सर्वकर्मसंन्यासज्ञानजिज्ञासा | २१३ |
|--|-----|

द्वितीयोऽध्यायः

| | | | | |
|--|---|---|---|-----|
| संन्यासाधिकारी | . | . | . | २३९ |
| पतितलक्षणम् | . | . | . | २३९ |
| संन्यासानधिकाणि: | . | . | . | २३९ |
| संन्यासस्वीकारप्रकारः | . | . | . | २४० |
| संन्यस्तपुरुषस्तवः | . | . | . | २४० |
| दण्डपग्रिहः | . | . | . | २४१ |
| दण्डलक्षणम् | . | . | . | २४१ |
| क्रमण्डलुपग्रिहः | . | . | . | २४१ |
| संन्यासिनां चातुर्विध्यम् | . | . | . | २४२ |
| वैराग्यसंन्यासी | . | . | . | २४२ |
| ज्ञानसंन्यासी | . | . | . | २४२ |
| ज्ञानवैराग्यसंन्यासी | . | . | . | २४३ |
| क्रमसंन्यासी | . | . | . | २४३ |
| षड्विधसंन्यासः | . | . | . | २४३ |
| कुटीचकः | . | . | . | २४३ |
| बहुदकः | . | . | . | २४३ |
| हंसः | . | . | . | २४३ |
| पद्महंसः | . | . | . | २४४ |
| तुरीयातीतः | . | . | . | २४४ |
| अवधूतः | . | . | . | २४४ |
| प्रत्यग्रहैक्यभावना | . | . | . | २४४ |
| चितिशक्तिः तत्स्तुतिश्च | . | . | . | २४६ |
| अभेदानुभवः | . | . | . | २४७ |
| आतुरसंन्यासः संन्यासिनां प्राप्यस्थानानि च | . | . | . | २५१ |
| संन्यासिभिः स्वरूपानुसन्धानं विना नान्यत्किमपि कार्यम् | . | . | . | २५२ |

| | |
|---|-----|
| नेषां चर्यादिकम् | २५३ |
| यतना वज्यानि | २५६ |
| मध्यनिदानकानि ; पानित्ये दोषनिरूपणं च | २५६ |
| नामधेयपदसूची | २६१ |
| विशेषपदसूची | २६३ |

अवधूतोपनिषत्

सह नाववतु—इति शान्तिः

अवधूतजिज्ञासा

अथ ह माङ्कृतिर्भगवन्नमवधूतं दत्तात्रेयं परिममेत्य पप्रच्छ ।
भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संमरणमिति ।
नं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः ॥ १ ॥

गौणमुख्यावधूतान्छिदयाम्बुजवर्ति यत् ।
तत्रैषदब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमवशिष्यते ॥

इह ग्वलु कृप्ययजुर्वेदप्रविभक्तयं अवधूतोपनिषत् अवधूतचर्याप्रकटनञ्चग्रा
नियप्रतियोगिकब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते ।
साङ्कृतिदत्तात्रेयप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्यथा । आख्यायिकाम-
वतागयति—अथेति । किमिति—भगवन्निति । साङ्कृतिप्रश्नोत्तरं भगवानाह—
तमिति । भगव इत्यत्र भव इति पाठम्वीकारे, भवतीति भवो भगवान् इति
व्युत्पत्तिः ॥ १ ॥

अवधूतशब्दस्याक्षरार्थः

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात् ।

तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥ २ ॥

गिनं न किञ्चिदस्ति इति यथा सम्यग्ज्ञानवृत्त्या गृह्यते सा संग्रहणी, सैव सांग्रहणी ।
 तया सांग्रहण्येष्टया जुष्टं ध्वः पश्वो वा स्वानिग्निकपशुमेधनं विशसनमपह्ववं कर्तव्यं
 इत्यत्र यद्विलम्बनमत्रं तदेवाश्वमेधमन्नयार्गं विद्वान् यजते सदा सर्वापह्ववसिद्धं ब्रह्म
 निष्प्रतियोगिकम्वमात्रमिति तन्मात्रतया अवतिष्ठते ॥ ७ ॥

महाव्रतम्

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म स्वैरं न विगायेत् । तन्महाव्रतम् ।

न स मूढबल्लिप्यते ॥ ८ ॥

यथा गविः सर्वमान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः ।

तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ॥ ९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रनिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

स एव कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म अहमेतादृश इति येन केनापि स्वैरं स्वच्छन्द-
 शीलं ज्ञान्वापि न विगायेत् इति यत् तन् महाव्रतम् । यदि कदाचित् वहिष्ठ-
 प्राण्यदृष्टानुगेषेन स्वशीलं विगायेत्तदाऽयं न स मूढबल्लिप्यते । तदेव सदृष्टान्तं
 प्रपञ्चयति—यथेति ॥ युगापत्सर्वकामाशनेऽपि न वर्धते न हीयते स्वयं अविकृतः
 मन् स्वानिग्निकान्ति भजनीत्याह—आपूर्यमाणमिति । अपरिच्छिन्नविषयसेवया
 योगी मुच्यते न तथा कामी परिच्छिन्नविषयसेवयापि हीयते इत्यर्थः ॥ ८-१० ॥

परमार्थसंशुद्धेशः

न निरोधो न चोत्पत्तिर्बद्धो न हि न साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ११ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातमिद्वच्चै मुक्तेश्च सिद्धये ।

बहुवृत्त्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ १२ ॥

तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥ १३ ॥

परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ।

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियामवः ॥ १४ ॥

सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ।

व्याचक्ष्णां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ॥ १५ ॥

येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियन्तवः ।

निद्राभिज्ञे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥ १६ ॥

द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात् ।

गुञ्जापुञ्जादि द्रव्यं नान्यारोपितवह्निना ।

नान्यारोपितसंसारधर्मानिवमहं भजे ॥ १७ ॥

यन् परमार्थसन् तदुपदिशति—नेति । निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रे स्वाति-
गिन्तप्रपञ्चोत्पत्तिप्रलयादिकं कुतः संभवति ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते इत्यर्थः ॥
एवं दत्तात्रेयमुखतः परमार्थतत्त्वं स्वावशेषधियावगम्य तदनुज्ञया तन्निष्ठो भूत्वा
स्वाज्ञलोकानुकम्पया सर्ववेदान्तमिद्धान्तः प्रकटयितव्य इति स्वानुभवं स्वधन्यतां
च प्रकाशयामासेत्याह—ऐहिकेति ॥ तत्र कृतार्थत्वेन संसारानुवर्तने का हानिरित्यत्र—
दुःखिन इति ॥ तथापि यत्किञ्चित् कर्म त्वया अनुष्ठेयं इत्यत्र—अनुतिष्ठन्तिवति ॥
किं च—व्याचक्ष्णतामिति ॥ ११-१७ ॥

श्रृणादिविधानम्

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।

मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ १८ ॥

विपर्यम्नो निदिध्यामे किं ध्यानमविपर्यये ।
 देहात्मन्वविपर्यामं न कदाचिद्भ्रजाम्यहम् ॥ १९ ॥
 अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
 विपर्यामं त्रिगुण्यस्तवामनानोऽवकल्पते ॥ २० ॥
 आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
 कर्मक्षये त्वमौ नैव शाम्येद्विज्ञानमहस्ततः ॥ २१ ॥
 विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्विज्ञानमस्तु ते ।
 अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ २२ ॥
 विक्षेपो नास्ति यम्माम्ने न समाधिस्ततो मम ।
 विक्षेपो वा ममाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ २३ ॥
 नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
 कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥ २४ ॥
 व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
 ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ २५ ॥
 अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
 शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥ २६ ॥
 देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
 तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ २७ ॥
 विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताः ।
 साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ २८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः ।

तृप्यन्नेवं स्वमनमा मन्यतेऽमौ निरन्तरम् ॥ २९ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वान्मानमञ्जमा वेद्मि ।

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ३० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं मामारिकं न वीक्षेऽद्य ।

धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं कापि ॥ ३१ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।

धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ३२ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।

धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।

अम्य पुण्यम्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ३४ ॥

अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥ ३५ ॥

श्रवणाद्यकर्तव्यतामप्याह—शृण्वन्त्विति । कथं वर्तसे इत्यत्र—देवार्चनेति ॥
किमिति—धन्योऽहमिति ॥ पालयितं पलायितमिति पक्षद्वयम् ॥ स्वानुभवं प्रकटयित्वा
साङ्कृतिर्भगवतानुज्ञातो भगवन्तं हृदये कृत्वा यथामुखं विचचरेत्यर्थः ॥ १८-३५ ॥

विद्यापट्टानुसन्धानफलम्

य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति । सुरापानात्पूतो
भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति ।

कृत्याकृत्यान्पूतो भवति । एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयात् ।

ओं मन्यम् । इत्युपनिषत् ॥ ३६ ॥

ग्रन्थतोऽर्थतश्चैतद्विद्यापठनानुमन्धानफलमाह—य इति । यथावत् एवं विदित्वेति । लोकोन्मादननिगमकोऽयमस्य स्वेच्छाचारः तस्यापि प्राप्य-
दृष्टयन्तव्यान् वस्तुतो न ह्यन्य प्रवृत्तिः निवृत्तिर्वास्ति ब्रह्मनिष्ठस्य निष्प्रतियोगिक-
ब्रह्मात्रार्थवस्तुत्वान् ब्रह्मैवायमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः अवधूतोपनिषत्परि-
माम्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रीवामदेवंन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

अवधूतोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।

अवधूतोपनिषदः पञ्चाशद्विंशत्यसंयुता ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविरणे एकोनाशीतिसंख्या-

व्रकमवधूतोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

आरुण्युपनिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

पारिव्राज्यलक्षणम्

आरुणिः प्राजापत्यः प्रजापतेर्लोकं जगाम । तं गत्वोवाच ।
केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विमृजानीति । तं होवाच प्रजापतिः ।
तव पुत्रान्भ्रातृन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं मुञ्चं स्वाध्यायं च
भूलोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनलोकतपोलोकसत्यलोकं च अनल-
वितलमुतलपातालरसातलतलातलमहातलब्रह्माण्डं च विमृजेत् ।
दण्डमाच्छादनं कौपीनं च परिग्रहेत् शेषं विमृजेत् । इति ॥ १ ॥

आरुणिकारुण्योपनिषत्ख्यातसंन्यासिनोऽमलाः ।

यत्प्रबोधाद्यान्ति मुक्तिं तद्रामब्रह्म मे गतिः ॥

इह खल्वारुणिकोपनिषदः सामवेदप्रविभक्तत्वेन केनछान्दोग्ययोः विग्व्यातो-
पोद्घातप्रकरणमत्रापि स्मर्तव्यम् । आरुणिप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका
विद्यास्तुत्यर्था । आरुणिः प्रजापतिं पाण्डित्यलक्षणं पृच्छतीत्याह—आरुणिगिति ।
अरुणस्यापत्यमारुणिः प्रजापतिशिष्यः प्राजापत्यः प्रजानां पालयितुः प्रजापतेर्लोकं
जगाम गतवान् । तत्रापि तं प्रजापतिं गत्वा विनयेनोपसङ्गम्योवाच । किमिति—हे

भगवन् प्रजापते केनोपायेन अहं सर्वकर्माण्यशेषतो विमृजानि निःशेषं त्यजेयं
इत्युक्तं पृष्ठः प्रजापतिः एवमुवाचेत्याह—तमिति । य एवं पृष्ठः कर्माण्यशेषतो
विमृजानति तं प्रजापतिर्होवाच किल । किमिति—तव पुत्रभ्रातृश्वशुरस्यालादिबन्धु-
जनान् शिखां यज्ञोपवीतं यागं तदुपलक्षितसर्वकर्म स्वसूत्रगोत्रादिकं स्वाध्यायं
न्यङ्गादिवेदांश्च भूलोकादिमहान्त्यन्तश्रेकविशिष्टं ब्रह्माण्डं च स्वातिगित्तधिया
विमृजेत् । चक्रागन् म्वेन याजनीयपुत्रादिब्रह्माण्डान्तं स्वोपभोगतया अस्मि
नान्स्मिन् विभ्रममपि मन्यजेदिति द्योत्यते । लोकोन्मादप्रवृत्तिनिगसनाय स्वोपभोगार्थं
वा दण्डं आच्छादनं कौपीनं परिग्रहेत् । तदितरत् यद्यत् ग्राह्यत्वेन मन्यते लोकः
तच्छेषमशेषं विमृजेत् । आवृत्त्या यद्यत्, त्यक्तं स्वानिगित्तधिया तत्तत् स्वप्नेऽपि न
परिग्रहेत् इति द्योत्यते ॥ १ ॥

मन्यस्यमानस्य कर्तव्यानि

गृहस्था ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समा-
रोपयेत् । गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत् । उपवीतं भूमावप्सु
वा विमृजेत् । कुटीचको ब्रह्मचारी कुटुम्बं विमृजेत् । पात्रं विमृजेत् ।
पवित्रं विमृजेत् । दण्डाल्लोकाग्नीन् विमृजेत् इति होवाच । अतः
ऊर्ध्वममन्तवदाचरेत् । ऊर्ध्वगमनं विमृजेत् । औषधवदशन-
माचरेत्^१ । त्रिमंथ्यां स्नानमाचरेत् । मंथि समाधावात्मन्याचरेत् ।
मनेषु वेदेष्वारणमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेत् । खल्वहं
ब्रह्ममूत्रं, मूचनान् मूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेवं विद्यात् । त्रिवृत्सूत्रं
त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद ॥ २ ॥

^१ ३ १. 'औषधवदशनमाचरेत्' इति नास्ति.

^२ ३ १. 'वेदेष्वारण-

“कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः ।

यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥”

इत्यादिश्रुतेः यदि परिग्रजनाधिकारं गृहस्थो ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा भवतु तदा ते स्वस्वाश्रमोचितालौकिकाग्नीन उदराग्नौ समारोपयेत् स्वस्वाग्निनात्म-समारोपणं कुर्यात् । ब्राह्मण्याधारा वेदमातङ्गं गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत् । चण्डः ब्रह्मचर्याश्रमे यावन्तो मन्त्रा गृहीताः तानपि त्यजेदिति विध्यर्थः । यज्ञोपवीतं “यज्ञोपवीतं वह्निं निवसेत्” इति मन्त्रेण भूमौ वा अप्सु वा विसृजेत् । यदि कश्चित् कुटीचको ब्रह्मचारी पागमहंस्याश्रममार्गदुर्मिच्छति तदा कुटुम्बप्रदेशं विसृजेत् । पुरा परिगृहीतजल्पपात्रपवित्रत्रिदण्डलोकामिन्द्रमूला-ध्यवसायानपि विसृजेदिति होवाच प्रजापतिः । यदैवं सर्वं परिगृह्णीति तदा तन ऊर्ध्वं मन्त्रः संकल्पः एवमेवं भवितव्यमिति । तद्विपरीतोऽमन्त्रवान् निःसंकल्पवता मनसा स्वाश्रमोचितकर्म आचरेत् । ऊर्ध्वगमनं मनोगाज्यं विसृजेत् । त्रिसन्ध्यां प्रातर्मध्याह्नसायाह्नेषु यथाशक्ति स्नानमाचरेत् । “जीवात्मपरमात्मनोऽर्कत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभक्तः सा सन्ध्या” इति,

“नोदकं जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु ।

सन्धौ जीवात्मनोऽर्क्यं सा सन्ध्या सद्विधीयते ॥”

इति च श्रुतिस्मृत्यनुगोचरेण समाधावात्मन्यन्तःकरणे प्रत्यक्षपरिचितः सन्धि-मैक्यमाचरेत् । न कदापि तयोर्भेदबुद्धिं कुर्यात् । सर्वेषु वेदेषु विद्यमानमार्गं सा-वित्रमावर्तयेत् । यद्वा तेनास्माकं किमिति ? उपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति वीप्सया तदावर्तनं तदर्थविचारं विना क्षणमात्रमपि न स्थेयमिति द्योयते । सर्वोप-निषदर्थब्रह्मसूत्रमहमेव खलु ब्रह्म । सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेवाह । सर्वेषु वेदेषु निष्प्रति-योगिकतया ब्रह्ममात्रस्यैव सूचनान् यत् सूत्रं तदेव ब्रह्मसूत्रमहमेवेति विद्याद्यएवं वेद । स विद्वान् त्रिवृत्सूत्रं यज्ञोपवीतं तदुपलक्षितप्रपञ्चजातं स्वातिगिक्तधिया संत्य-जेत् न पुनः स्मरेदित्यर्थः ॥ २ ॥

संन्यासमन्त्रलिङ्गविध्यादि

संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा अभयं
 सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । सत्त्वा मा भोपायोजः सखा योऽसीन्द्र-
 स्य वज्रोऽमि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण कृतं
 वैणवं दण्डं कौपीनं पग्निहन् । औषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं
 प्राक्षीयाद्यथालाभमश्नीयान् । ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं
 च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥ ३ ॥

केन मन्त्रेण संन्यासः कर्तव्यः ? किं वा संन्यासलिङ्गं ? तदनुष्ठेयविधिरा
 कांष्टः ? इत्याशङ्क्याह—संन्यस्तमिति । यदि विद्वान् मुनिस्तदा नागदपरिव्राज-
 क्रोपनिष्वतुर्थोपदेशोक्तरीत्या कृच्छ्रप्रायश्चिनाष्ट्राद्धसप्तकेशविसर्जनपूर्वकक्षौगस्नान-
 गायत्र्यादिमन्त्रग्रामस्नानावोपनहणपुरुषमृत्तविग्जाहोमाभ्युपसंहारपूर्वकं नाभिदण्डो-
 दकमुपविश्य यद्यन् गायत्र्यादि स्वार्धातं तत्तत्सर्वं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा “अहं
 वृक्षस्य”, “यश्छन्दमां”, इति मन्त्रोच्चारणपूर्वकं देवब्राह्मणसन्निधौ स्वयमुत्तमं
 दिशमवलोकयन्, देवब्राह्मणा यूयं शृण्वन्तु दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेष-
 णायाश्च व्युत्थितोऽहमस्मीति विज्ञाप्य “ॐ भूः संन्यस्तं मया” इत्यादि प्रातिस्वि-
 केन व्याहृतित्रयमुच्चार्याथ कृत्स्नमपि संन्यस्तं मयेति चोच्चार्य मन्त्रमध्यमताडनध्वनिभिः
 पत्रं निर्भयः मन् त्रिवारोद्घोषणपूर्वकं “अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते
 स्वाहा” इति मनुना जटं प्रादय, ततः प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं प्रक्षिप्य “ॐ स्वाहा”
 इत्यवशिष्टकेशालुत्पाद्य “यज्ञोपवीतं वह्निं निवसेत्” इति मन्त्रेण यज्ञोपवीतं
 धित्वा “ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा” इत्यमु जुहुयात् । ततः पुनः प्रैषं त्रिवार-
 मुच्चेत् । यद्यन् म्वातिगित्त्वेनाभिमतं तत्तत्सर्वं निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रधिया मया
 संन्यस्तं सम्यक् यत्नम् । आवृत्तिगदार्था । एवं ब्रह्मादिस्तम्बान्तसर्वभूतेभ्योऽभयं
 मया दत्तं तथा सर्वभूतेष्वपि मद्भूमिति प्रतिज्ञाय जातरूपधरः सन् शतपदमुदीचीं
 दिशं गच्छेत् । ततो गृहस्थप्रार्थनया गुरुनिकटमागत्य तैर्दत्तकटिसूत्रकौपीनशाटिक-

मण्डलदण्डादिकं नत्तन्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं गृहीत्वा. अथ गुणेः मकाञ्जान् प्रणव-
महावाक्यादिकं स्वीकृत्य स्वाश्रमाचारपणे भवेदित्यर्थः । “ सखा मा गोपाय ” इति
दण्डग्रहणमन्त्रः । उक्तलक्षणलक्षितोऽयं दण्डो वैराग्ररूपः । तदभेदेन यः स्वाञ्ज-
व्याष्टिर्जीवमग्वाजः इन्द्रस्य वार्त्रघ्नो वज्रोऽसि यतो मे स्वाञ्जजन्वेन सखा अग्नि ।
अतस्त्वं मा मां गोपाय पालयतु । अतस्त्वं मे शर्मकृत् भव त्वद्दर्शनान् पुग
यन्मया कृतं पापं तन्निवारय इत्यनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं पग्निग्रहं । कौपीन-
पग्निग्रहणं कटिसूत्रकमण्डलुशब्दाद्युपलक्षणार्थम् । यथा यथा मेदेऽवृद्धिर्न जायते
प्राणोऽपि देहं न यजति तथा तथा औषधवद्दर्शनमाचरेत् , औषधवद्देवाशनं प्राप्नी-
यान् । स्वाशनस्य गृहस्थाधीनत्वेन यथालाभमर्क्षायान् । ब्राह्मणान्तरं चेति द्विविधं
ब्रह्मचर्यादि । तत्राष्टाङ्गमैथुनवर्जितं ब्राह्मम् । ब्रह्मभावमनश्चारे ब्रह्मन्तर्ब्रह्मचर्यम् । तथा
हिंसां परस्वर्पाडाकरलक्षणां च, तथैवापग्निग्रहं च प्राणसंवाग्नेतृगपग्निग्रहं ब्राह्मं ब्रह्मैव
स्वमात्रमिति धिया स्वातिरिक्तसामान्यापग्निग्रहमान्तरं च, तथा सत्यं च प्राणिमात्र-
प्रियकरसत्यवचनं ब्राह्मं सत्यमेव सत्यं सन्मात्रमित्यान्तरं हे शिष्याः यूयं एतद्ब्राह्म-
न्तरप्रविभक्तब्रह्मचर्याहिंसापग्निग्रादिकं महता प्रयत्नेन रक्षत । आवृत्तिः अप्रमादेनैवा-
चर्ग्यायमित्यवधारणार्था । रक्षतेत्यर्थे रक्षतः इति प्रयोगस्तु छान्दसः ॥ ३ ॥

संन्यासिनां आसनादिनियमाः

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामामनशयनाभ्यां भूमौ ब्रह्म-
चारिणाम् । मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा । कामक्रोधलोभ-
मोहदम्भदपेच्छामूयाममत्वाहंकारादीनपि त्यजेत् । वर्षासु ध्रुवशीलो-
ऽष्टौ मामानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् । स खलु एवं
यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत् । पितरं पुत्र-
मग्न्युपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह ॥ ४ ॥

तेषामासनशयनपात्रनियममाह—अथेति । अथ गुरुपदेशानन्तरं यतः
संन्यासकाले मृदासनखट्वादिकं परित्यक्तं अतः । परमहंसः परमात्माहमस्मि इति

इद्वनिश्चयेन स्वानिर्गन्तधिया यद्यत् भानं तत्तत् सर्वं परित्यज्य ब्रह्ममात्रपदं ब्रजन्तीति
 पग्विवाजकाः । तेषां परमहंसपग्विवाजकानां ब्रह्मण्येव चरतां ब्रह्मभावमापन्नानां
 भूमावेव आसनं गयनं च आसनशयने ताभ्यामेव देहयात्रा संभवति, न मृदास्तरण-
 शय्याकाङ्क्षाम्नि । “महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूलं वसेत्” इति, “शय्या भूतलमजिनं
 व्रानः” इति च श्रुतेर्भोग्यकारिणेश्च । तेषामुदकाहरणार्थं कर्मण्डलुस्थानीयं मृत्पात्र-
 मलावुपात्रं दारुपात्रं वा भवति । तत्र मृत्पात्रात्मभवे अलाव्वादिपात्रं वा ग्राह्यं, न तु
 शोणविकारमित्यर्थः । कदाचिदपि न्योपस्करविषये यदि प्रसक्त्यं कामक्रोधादिवृत्तिः
 तन्निःशेषं संत्यजेदित्यर्थः । प्राणिहिंसानिवृत्त्यर्थं वर्षासु चातुर्मास्यनियमपुरस्सरं यतिः
 एकत्र न्ययोग्यप्रदेशे ध्रुवशीलः स्थिरासनो भवेत् । शिष्टाष्टौ मास्येकाकी यतिश्चरेत् ।
 यद्वा—“पश्चा वै चतुरो मासा इति द्वौ मासौ वा वसेत्” इति श्रुत्यनुगोघेन
 मामचतुष्टयनियमं विहाय यावायाद्व्यावणमासौ तौ द्वावेवाचरेदिति । आवृत्तिः
 अवधारणायां । एकत्र मामचतुष्टयवसनान् तत्रत्यानां श्रमो भवेदिति दययेत्यर्थः ।
 यो यद्येवं पाग्विवाज्ययनां विद्वान् भवति तदा सोऽयमुपनयनादूर्ध्वं उपनयनात्
 प्राप्त्वा हस्तानलकाचार्यवज्जानमात्रेण विदिततत्त्वश्चेत् संन्यसेत् । यदि गार्हस्थ्यदशायां
 मंजानचिगागः संन्यस्तुमिच्छति तदानीमेव पितरं पुत्रमभ्युपवीतं कर्मार्थस्वीकृत-
 कलत्रं च, पुनर्न्यस्यपि यद्यत् स्ववन्वहेतुत्वेन दान्यते तदपि संत्यजेत् संन्यसे-
 दित्यर्थः ॥ ४ ॥

भिक्षानियमाः

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा ॥५॥

तेषां भिक्षानियममाह—यतय इति । “यतयो भिक्षार्थमेव व्यङ्ग्येरे मुक्त-
 वज्जनं” इति श्रुतिसिद्ध्यथोक्तकाले ग्रामं प्रविशन्ति, न तदतिरिक्तकाले । तैः
 पाणिपात्रं उदरपात्रं वा आर्यागस्थित्यर्थमङ्गीकृतम् । यावज्जीवं तेनैव कालं
 नयन्ति ॥ ५ ॥

भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रः

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत् । विद्वान्य
 एवं वेद ॥ ६ ॥

भिक्षानिमित्तोपस्थानमन्त्रमाह—ॐ हीति । ॐ हि ॐ हि ॐ हि इति
मन्त्रेण सूर्यमण्डलस्थान्मानुसंवानं कुर्वन् अथ ग्रामं प्रविशेदित्यर्थः ।

“पाणिपात्रश्चरन् योगी नासकृद्वैश्वनाचरेत् ।
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात् सर्वेषु मोऽऽनन्वाय कल्पते ॥”

इति श्रुतेः । य एवमेतदुपनिषदं वेदं यथावद्विद्वान् विन्यसेत् विद्वन्मन्यामं
कुर्यात् ॥ ६ ॥

विद्वत्संन्यासाधिकारः

पालाशं वैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च
त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद ॥ ७ ॥

किं कृत्वा संन्यसेदित्यत आह—त्यक्त्वेति । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा
क्रमेण पालाशं वैल्वमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतम् । चण्डालः
एतत् सर्वं त्यक्त्वा विन्यसेदिति पूर्वेष्वणान्वयः ॥ ७ ॥

उपसंहारः

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥ ८ ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।

विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ इति ॥ ९ ॥

एवं त्रिविधाः वेदानुशासनं वेदानुशासनम् । इत्युपनिषत् ॥

य एवं वक्ष्यमाणं विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकस्त्वमात्रमिति वेद सोऽयं स्वाति-
रिक्ताविद्यापदतत्कार्यापह्वीकरणदक्षत्वेन शूरो भूत्वा तन्मात्रतया अवशिष्यते

इत्युपसंगति—नदिति । तदेतन्निर्देशं ब्रह्म स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्वाविद्यापद-
नत्कार्यप्रसक्तौ तदार्गेषापवादाधिकरणतया विभातस्य विष्णोः व्यापनशीलस्य
त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्य स्वाविष्ट्याविद्यापदनत्कार्यापवादसापेक्षताधिकरणतासंभव-
प्रवेद्यमिदमेतन्न परमं निगधिकरणतया सर्वोत्कृष्टं नित्यसूक्तिभिः ब्रह्मविद्वर्गिणैः ।
मन्मात्रतया पश्यत इति पदं तद्विष्णोः परमं पदम् । ‘गहोः शिः’ इतिवत् विष्णु-
शब्दात्मन्यं सूरयो ब्रह्मविद्वर्गीयां सदा निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यन्ति ।
पश्यन्तं नित्यपदं जातं विष्णुपदस्य इत्यन्वेन परिच्छिन्नता स्यादित्यत आह—दि-
वीति । दिवि द्योतनात्मके ब्रह्मर्षीव चक्षुर्दृष्टिः दर्शनं तद्गोचरज्ञानमातत्तममपरिच्छिन्नं
तद्विष्णुपदं निष्प्रतियोगिकवर्णं स्वभेदेन सूरयः पश्यन्ति चेत् तत्परिच्छेद्यं
भवितुमर्हति । न हि तथा ते पश्यन्ति किं तु स्वयमेव विष्णुपदं पश्यन्तीत्यर्थः ।
किंविशेषणविशिष्टाः सूरयः ? तद्दर्शनतस्तन्मात्रतया विशिष्यन्त इत्यत आह—
तदिति । विप्रासः विप्राः ब्रह्मविद्वर्गिणः ब्राह्मणाः विपन्यवो विगतस्वातिरिक्ता-
ल्लामप्रयुक्तमन्यवः, स्वातिरिक्तस्य स्वमात्रतया लब्धवत्वात् । अत एव ते
जागृवांसः स्वाज्ञाननिद्रावैगत्यात् नित्यं जागरूकाः । विष्णोर्यन् परमं पदं
स्वमात्रतया पश्यन्ति तद्दर्शनसमकालं एते तन्मात्रावशेषतया तद्विष्णुपदं समिन्धते
तन्मात्रतया अवशिष्यन्ते । इत्येवं निर्वाणस्य कैवल्यस्य अनुशासनं वेदानु-
शासनम् । वेदानुशासनमिति द्विरुक्तिरुद्गता । इत्युपनिषच्छब्दावारुणिकोप-
निषत्परिग्रहमाप्त्यर्थौ ॥ ८-१० ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

ल्लिखितं म्याद्विवरणं स्फुटमारुणिकस्य हि ।

आरुणिकविवरणप्रत्यस्त्रिंशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीश्वर्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षोडशस्कंधापुरकं

आरुणिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

कठखट्वोपनिषद्

सह नावतु—इति शान्तिः

ब्रह्मविद्याध्ययनम्

१देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् । अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्याम् ।

स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

पागिब्राज्यधर्मप्रणालङ्कारं यत्पदं ययुः ।

तदहं कठविद्यार्थरामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु कृष्णयजुर्वेदप्रविभक्तस्य कठखट्वोपनिषत् पागिब्राज्यधर्मप्रकटन-
व्यप्रा ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । देवता-
पटलप्रजापतिप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुल्यार्था । आख्यायिकामव-
तारयति—देवा इति । देवकृतप्रश्नोत्तरं स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

१ अङ्गार पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषत्कोशे अवोलिखितमधिकं प्रारम्भे
दृश्यते :—ॐ । योऽनुक्रमेण संन्यसति स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते ।
कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः सुषुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यं पुत्रान्सुहृदो
बन्धून्सुभोदयित्वा ये चास्यतित्रजस्तान्सर्वोश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरीमिष्टिं कुर्यात् । सर्वस्वं
दद्यात् । यजमानस्याङ्गानृत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्येऽन्वाहार्यपक्वे
सम्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान् सर्वेषु समारोपयेत् । सक्षिप्तान्नेशाभिष्कृत्य,
विमृज्य यज्ञोपवीतं, निष्कन्य, पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं सर्वं विदुः । यद्यपुत्रो

ब्रह्मविद्याङ्गमन्यामनिरूपणम्

मशिवान् केशानिष्कृष्य, विमृज्य, यज्ञोपवीतं निष्कृष्य,
नतः पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोँकारस्त्वं स्वाहा
त्वं म्ववा त्वं धाता त्वं विधाता । अथ पुत्रो वदति । अहं ब्रह्माहं
यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोँकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं
त्वष्टाहं प्रतिष्ठाम्मीति । तान्येतानि अनुब्रजन्नाश्रुमापातयेत् ।
यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात् । प्रदक्षिणमावृत्यैतच्चैतच्चानवेक्षमाणः
प्रत्यायति^१ । म म्वर्यो भवति ॥ २ ॥

किमिति । अत्र ब्रह्मविद्याङ्गन्या मंन्यामं निरूपयति—सशिखानिति ।
ब्रह्म वेदः यज्ञवपट्कारादिकं मयानुष्ठितमननुष्ठितं वा तच्छेषपूरणं त्वदधीनमिति
पित्रोक्तस्तथेत्याह—अथेति । भवता अर्धातमनर्धातं वा वेदादिकं तच्छेषपूरणं

भवत्यात्मानमेवं ध्यात्वानवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् । चतुर्षु वर्णेषु मैक्षचर्यं
चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधवत्प्राश्नीयाद्यथालाभमधीयात्प्राणसंचारणम्^२ यथा मेदोवृद्धिर्न
जायते । कृषीभूत्वा ग्राम एकरात्रं, नगरे पञ्चरात्रं, चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वा नगरे वापि
कसेत् । किरीर्णं वस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्य नान्यत्प्रतिगृहीयात् । यद्यशको भवति येन
ऋतसहः स तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यसति यो वा व्युत्तिष्ठति किमस्य
यज्ञोपवीतं कस्य शिष्टा कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच । इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं
यदान्मध्याह्नं, या विद्या मा क्षिप्वा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयिष्योदपात्रे । जलतीरि
निर्गन्तं हि ब्रह्मवादिनो वदन्ति । अस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच ॥

यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तम् न वा दिवा । तदन्त्येष्टिर्नोक्तम् । सकृद्दिवा है वास्यै
मरति । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते संधत्ते ॥

देश इ वै समेत्य प्रजापतिमब्रुवन् । न विदामो न विदाम इति । सोऽप्रवीद्विद्विष्टेभ्यः ।
ये तद्वदतो ब्राह्मवेति । ततो वै ते ब्रह्मिष्ठ न वदन्तो न वदन्त इत्येतत्सर्वम् । देवानां
मार्तिनां मारुतेभ्यः सायुज्यतां गच्छति य एवं वेद ॥

^१ उ १, प्रत्यावन्ति.

अहं करोमीति पुत्रोक्तिमाकर्ण्य तं विसृज्य प्रव्रजनकाले तद्वियोगाज्जाश्रुपातं सन्तानि-
विच्छेदकं न कुर्यात् । ततः किं इयत्र—प्रदक्षिणमिति । यः संन्यासादूर्ध्वं
स्वाधिष्ठितग्रामं स्वजनं वा प्रदक्षिणीकृत्य पुनस्तमनवेक्षमाणः प्रव्रजति स स्वर्ग्यो
ब्रह्मलोकं गतो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

संन्यासक्रमः

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य
पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपोपाधिभिर्वितत्य, इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य
संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च । सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं
पयसाग्निहोत्रं जुहुयाद् द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात् । द्वादशरात्र-
स्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं
अग्निम् । संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात् । मृन्मयान्यप्सु
जुहुयात् । तैजसानि गुरवे दद्यात् । मा त्वं मामपहाय परागा नाहं
त्वामपहाय परागामिति गार्हपत्यदक्षिणाभ्याहवनीयेषु, अरणिदेशा-
द्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके । सशिखान् केशान्निष्कृष्य विमृज्य यज्ञोपवीतं
भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात् । अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशनमग्निप्रवेशनं
वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत् । पयसायं प्रश्नीयात्सो-
ऽस्य सायंहोमो यत्प्रातः सोऽयं प्रातः, यदृशं तद्दर्शं यत्पौर्ण-
मास्ये तत्पौर्णमास्यं, यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सो-
ऽस्याग्निष्टोमः ॥ ३ ॥

ब्रह्मचर्याद्याश्रमाचारप्रकटनपूर्वकं क्रमसंन्यासमाह—ब्रह्मचारीति । ब्रह्म-
चर्यं समाप्याथ गुर्वनुज्ञयोद्वाह्याथ दारानाहृत्येति । तदनुरूपोपाधिभिः संयोज्याथ

इष्टा चेति । अग्नये वैश्वानराय इति मन्त्रेण संस्थितानि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयान् । तत अनेन मन्त्रेण मा त्वमिति । एतज्जावाल्लोपनिषदि व्याख्यातम् ॥
मन्यासानन्तरमुक्तलक्षणलक्षितमग्निष्टोमादिकं तन्मन्त्रं वा न पुनरावर्तयेदित्याह—
पयसेति । इत्यग्निष्टोमलक्षणमुक्तम् ॥ ३ ॥

संन्यस्तस्य कर्तव्यानि

संन्यम्याग्निं न पुनरावर्तयेत् । यन्मृत्युर्जायमावहं इत्य-
ध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् । स्वस्ति मर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वा आत्मानमनन्यं
ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेदनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी
यत्किंचिन्न दद्यात् । ल्वैकं नाधावयेत् जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जम्
इति । तदपि श्लोका भवन्ति ॥ ४ ॥

कुण्डिकां चमसं शिक्व्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।

शीतोपवातिनीं कन्यां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ५ ॥

पवित्रं ज्ञानशार्दी च उत्तरासङ्गमेव च ।

यज्ञोववीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६ ॥

ज्ञानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।

नदीपुलिनशायी म्याद्देवागारेषु वा स्वपेत् ॥ ७ ॥

नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ।

स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८ ॥

संन्यस्त्वग्निं न पुनरावर्तये. इत्यादि निन्दितो न शपेत् परान् इत्यन्तं
कुण्डिकोपनिषदि प्रापशो व्याख्यातम् ॥ ४-८ ॥

ब्रह्मचर्यलक्षणम्

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करि ।

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥ ९ ॥

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च ।

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १० ॥

विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।

ब्रह्मचर्येण सदा स्थेयं इत्याह—ब्रह्मचर्येणेति । किमिदं ब्रह्मचर्यम् इत्यत आह—दर्शनमिति । रागेण स्त्रीदर्शनमित्यादि ॥ ९-१० ॥

ब्रह्मचर्यस्य फलम्

^१यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरन् ॥ ११ ॥

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ।

प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ॥ १२ ॥

ब्रह्मचर्यपरिष्कृतज्ञानफलात्मा कीदृशः इत्यत आह—यदिनि ॥ अन्य-
श्रूयेण स एव जगतः साक्षी ॥ ११, १२ ॥

ब्रह्मभावापत्तेः ज्ञानायत्ता

न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित् ।

ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ॥ १३ ॥

प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावापत्तिः ज्ञानायत्ता नान्यायत्तेत्याह—न कर्मणेति ॥ १३ ॥

^१ यज्जगद्भासकमित्यारभ्य आसमाप्ति अव्याप्तिं पुस्तकशालायां मुद्रिते कोशे न दृश्यते.

नद्विधाविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानमुखाद्वयम् ।

मंमारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिमंज्ञिके ॥ १४ ॥

निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञितं ।

मोऽश्नुते सकलान् कामानक्रमेण द्विजोत्तमः ॥ १५ ॥

प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तं च साक्षिणम् ।

एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥ १६ ॥

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितान् ।

अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुमर्पवत् ॥ १७ ॥

आकाशाद्वायुर्गन्तव्यं स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः ।

वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा ॥ १८ ॥

तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्यैश्वरस्तदा ।

तेभ्य एव विसृष्टं तत् ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥ १९ ॥

ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः ।

मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुमारतः ॥ २० ॥

अस्थिसन्नाद्यादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम् ।

योऽयमन्नमये ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ॥ २१ ॥

ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।

ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥ २२ ॥

ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ।

आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥ २३ ॥

योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।
 मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥ २४ ॥
 ततो मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु ।
 आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखी ॥ २५ ॥
 नथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा ।
 सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ २६ ॥
 यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
 सारमेव रमं लब्ध्वा साक्षाद्देही मनातनम् ॥ २७ ॥
 सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः ।
 अमत्यस्मिन् परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ॥ २८ ॥
 को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते ।
 तस्मात् सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥ २९ ॥
 आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
 यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥ ३० ॥
 निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः ।
 तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥ ३१ ॥
 सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम् ।
 यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥ ३२ ॥
 विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ।
 अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥ ३३ ॥

भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु ।
 तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥ ३४ ॥
 स्वरूपमून आनन्दः स्वयं भाति पदे यथा ।
 निमित्तं किञ्चिदाश्रित्य खलुशब्दः प्रवर्तते ॥ ३५ ॥
 यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः ।
 निर्विशेषपरानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते ॥ ३६ ॥
 तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम् ।
 यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिग्रादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥ ३७ ॥
 व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु ।
 तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्वनम् ॥ ३८ ॥
 विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन ।
 एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥ ३९ ॥
 स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ।
 तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥ ४० ॥
 प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजा ।

कौटुं ब्रह्मेत्यत्र तद्विद्याविषयं ब्रह्म इत्यादिना आनन्दवल्ल्यर्थं स्पष्टी-
 करोति । “ब्रह्मविदामोति परम्” इति सूत्रवाक्यं “न कर्मणा” इति वाक्येन
 स्पष्टीकृतम् । तद्वृत्तिस्थानीय—“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” इति वाक्यमपि
 “तद्विद्याविषयं ब्रह्म” इति वाक्येन स्पष्टीकृत्य, “यो वेद निहितं गुहायाम्”
 इत्यादि संसारे च इति वाक्यैः स्पष्टीकरोति—संसार इत्यादिना ॥ “यज्जगद्भा-
 सक्तं भानम्” इत्यादि “ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्” इत्यन्तं आनन्दवल्लीव्याख्या-
 नेनैव व्याख्यातं स्यादिति मन्तव्यम् ॥ १९-४० ॥

एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः समधा भेदः

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥ ४१ ॥

प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा ।

इति मसविधं प्रोक्तं मिद्यते व्यवहारतः ॥ ४२ ॥

मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते ।

मायामम्बन्धनश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥ ४३ ॥

अन्तःकरणसम्बन्धात् प्रमातेत्यभिधीयते ।

तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात् प्रमाणमिति कथ्यते ॥ ४४ ॥

अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते ।

तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥ ४५ ॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ।

एकस्यैव निर्विशेषब्रह्मणः समधा भेदः स्वाज्ञद्यष्टिविकल्पितः इत्याह—
शुद्धमिति ॥ श्रुतिः स्वकृतसूक्तवाक्यं स्वयमेव विवृणोति—मायेति । स्वाति-
रेकेण मायास्ति नास्तीति विभ्रमासंभवप्रबोधसिद्धं शुद्धमित्यभिधीयते ॥ स्वाज्ञान-
तानवतारतम्यानुगोधेन सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम् ॥ ४१-४५ ॥

विद्याफलम्

एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४६ ॥

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः ।

स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥ ४७ ॥

इत्युपनिषत् ॥

विद्याफलमाह—एवमिति । स मुनिर्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ सर्ववेदान्त-
मिद्वान्तामां प्रकटयन्नुपसंहति—सर्वेति । किं तत् इत्यत आह—स्वयमिति ।
स्वदेहादौ ऋद्धमूर्ते स्वंभावमहंभावं मृत्वा मृतीः नीत्वा स्वात्मनि विलाप्य
तद्विलापनाधिकरणं स्वयं भूत्वा अधिष्ठेयसापेक्षाधिकरणतापाये निष्प्रतियोगिकं
निर्गन्धिकरणतया स्वयमेवावशिष्यते इत्यत्र—

स्वान्मन्यागेपितांशेषाभासवस्तुनिगतः ।

स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥

इति ॥ इत्युपनिषच्छब्दः कठोपनिषत्समाम्यर्थः ॥ ४६, ४७ ॥

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयागिना ।

लिंगितं स्याद्विवरणं कठोपनिषदो लघु ।

कठोपनिषदो व्याख्या द्विषष्टिप्रन्थसंयुता ॥

इति श्रीमर्दाशायद्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे व्यशीतिसंख्यापरकं
कठोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

कुण्डिको गदि षत्

आप्यायन्—इति शान्तिः

संन्यासपरिग्रहात्पूर्वं कर्तव्यानां अनुक्रमणम्

¹ब्रह्मचर्याश्रमेऽक्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः ।

वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः ।

ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

¹ अङ्ग्या पुस्तकशालायां मुद्रिते संन्यासोपनिषत्कोशे अथो निर्दिष्टमधिकं दृश्यते—
ॐ अथाहिताग्निर्ध्रियेत प्रेतस्य मन्त्रैः संस्कारोपतिष्ठते । स्वस्थो वाश्रमपारं गच्छेद्यमित्ये-
तान्पितृभेदिकानोषधिसंभारान्संभृत्यारण्ये गत्वामावास्यायां प्रातरैवाग्नीनुपसमाधाय पितृभ्यः
श्राद्धतर्पणं कृत्वा ब्राह्मेष्टिं निर्वपेत् ॥

स सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ब्रानमयं तपः ।

तस्यैषाहुतिर्दिव्या अमृतत्वाय कल्पते ॥

इत्येवम् । अत ऊर्ध्वम्

यद्ब्रह्माभ्युदयहिवं च लोकमिदममुं च सर्वम् ।

सर्वमभिजन्तुः सर्वश्रियं दधतु सुमनस्यमाना ॥

ब्रह्म जज्ञानं [प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुखो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥] इति ।

ब्रह्मणेऽयर्वणे प्रजापतयेऽनुमतयेऽग्नये स्विच्छ्रुत इति हुत्वा,

मंविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विमृज्य च ।

मंचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः ।

म्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥ ४ ॥

कुण्डिकोपनिषत्पञ्चतन्त्रपराजक्तस्तन्तिः ।

यत्र विश्रान्तिमगमत्तद्रामपदमाश्रये ॥

इह स्वस्त्यु सामवेदप्रविभक्त्यं कुण्डिकोपनिषत् पाणित्राज्यधर्मप्रकटनव्यग्रा
ब्रह्ममात्रविश्रान्ता विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवर्णमागम्यते । आख्यायिकां
विना श्रुतेरवान्तरात्प्राप्त्या प्रवृत्तिर्विद्यान्तुयथा । ब्रह्मचर्येति । सत्कुलप्रसूतो द्विजाति-
ब्रह्मचर्याश्रमसर्वाकर्णार्थं स्वगुर्वभिमतशुश्रूषणे रतः सन् गुल्कुलवासं कृत्वाऽथ
गुल्फोपनान्तन्मुक्तेऽङ्गोपवेदानधीत्य सर्ववेदार्थगृहस्यमप्यवगम्य गुहोः प्रसादतः
अक्षीणे अक्षये द्विविधब्रह्मचर्याम्पदब्रह्मचर्याश्रमे लब्धेऽपि सति । ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । गुहाद्वली भूत्वा प्रव्रजेत् यतिः श्रुत्यर्थमाननाय । अधीत्यानुज्ञात इत्यत्र

यज्ञ यज्ञं गच्छ [यज्ञपतिं गच्छ ।

स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहस्रमन्त्राकः ।

सुवीर्यः स्वाहा ॥]

इत्यग्निकर्मा हुत्वा,

ओ किल्मषाव [मस्या वक्त्या.....

.....

.....वितं मे अस्य रोदमी ॥]

इति ऋग्भिर्नुवाकैराज्याहुतीर्हुत्वा । तैरेवोपतिष्ठे । अथ

मम्यग्रे अग्निं [गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

मवि प्रजां मम्याकुर्वामि स्वाहा मम्यग्निम् ॥]

इति च द्वावमी ममारोपयेत् । अतवान्त्यादतन्त्रित इति । तत्र श्लोकः ।

छान्दसन्वादकारलुप्तः पाठोऽपि वर्तते अर्धान्यनुज्ञान इति । उन्नगश्रमस्वीकरणार्थं गुरुणा अनुज्ञातः सन् अयमाश्रमी ब्रह्मचारी स्वसदृशं स्वकुलानुगुणं दारमा-
हृत्योद्वाह्य तथा साकं गार्हस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कुर्वन्नुपित्वा वानप्रस्थाश्रमं जिग-
मिषुः शक्तितो धैर्यतोऽग्निमाधाय वानप्रस्थाश्रमाङ्गत्वेन तासां ब्रह्मादिदेवतानां
सन्तुष्ट्यर्थं ब्राह्मीं ब्रह्मदेवताकामिष्टिं यजेन् । कृत्यहानि कर्तव्येयमिष्टिः इत्यत्र
तासामहोरात्रेण निर्बपेन् । ततः स्वाजितार्थं पित्राजितार्थं वा गोधनान्मके यथायोगं
संविभज्य तवेदमस्तु तवेदमस्तु इति सुतान् प्रति दत्त्वा, निःशेषीकृतपगिको,
गच्छेत्तद्विदः विसृज्य, शुचौ देशे संचरन् वनमार्गेण, वन्याश्रमोक्तविधिना
वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा परिभ्रमन् तदाश्रमं समापयेत् । यदि वाय्वादिभक्षणानृतमस्तदा
विहितैः निदृष्टैः कन्दमूलैरपक्वैः पक्वैर्वा शरीरयात्रां कुर्यान् । एवं स्वशरीरमात्रं
सर्वसंसारं समाप्याथ पूर्वानुभूतस्वपगिकं स्मृत्वा पृथिव्यामश्रुपातं न कुर्या-
दित्यर्थः ॥ १-४ ॥

विदारस्यैव संन्यासाधिकारः

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते ।

सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।

अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥ ६ ॥

लोकवद्भार्यया सक्तो वनं गच्छति संयतः ।

संन्यासस्य क्रमप्राप्ततया विदारः सदगो वा संन्यसेदित्यत आह—सहेति ।
विदारेण संन्यासः कर्तव्यः खलु, संन्यासस्य दाराद्येषणात्यागपूर्वकत्वात् । तथा
सति तेनैव दारेण साकं पुरुषो वनी कथं संन्यस्तो भवेदित्युच्यते । यस्मिंस्तु
सदारे सति सदारो वनीति नामधेयेन सहितः सदादृष्टेयो भवति । स कथं
संन्यस्तो भवतीत्युच्यते ॥ यस्मात् सदारस्य न संन्यासाधिकारः तस्मात् सम्यक्

स्वहितात्मनां संहितात्मनां वानप्रस्थधर्माणां ईश्वरागधनत्रियानुष्ठितानां फलवि-
शुद्धाङ्गी स्वकृतधर्मफलार्पणमन्तुष्टेश्वरप्रसादात्सादितविशुद्धचित्तो विदागो मुनिः
मर्वकर्मसंन्यासं कुर्यात् । तादृशचित्तशुद्धयभावे ब्रह्मचर्यतः चित्तशुद्धिहेतुश्रौत-
मार्गधर्मानुष्ठानार्थमग्निवर्णं गार्हस्थ्यं प्रपद्य वानप्रस्थाश्रमागेहणचित्तशुद्धिर्वान-
प्रस्थाश्रमं पागिब्राज्यानुकूलचित्तशुद्धिप्रापकं प्रपद्यते ॥ ग्राम्यमुखेच्छाभावेऽपि
औपासनादिधर्मानुष्ठानार्थं संन्यतकरणप्राप्तो मुनिः लोकवन् भार्यया सक्त इव वनं
गच्छन्तीत्यर्थः ॥ ९, ६ ॥

जन्मनिवृत्त्यर्थं संन्यामपरिग्रहः

मं त्यक्त्वा मंमृत्तिसुखं हृदि धृतिं किं मुधा ॥ ७ ॥

किं वा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान्^१ ।

गर्भवामभयाङ्गीतः शीतोष्णाम्यां तथैव च ।

गुहां प्रवृष्टुमिच्छामि परं पदमनामयम् ॥ ८ ॥ इति ॥

किमर्थं संसारदुःखं विहाय वनी भवनीत्याशङ्क्य जन्मादिभियां सर्वं त्यक्त्वा
वनीं भिक्षुर्वा भवनीत्याह—संन्यक्त्वेति । विपुलं संसारभवमुखं संन्यज्य मुधा
वनहन्तमटति दागपुत्रादियोगजमुखदे संसारे ॥ किं दुःखमनुस्मृत्य सर्वोच्छ्रितान्
स्वचन्दनादिभोगांस्त्यजतीति प्राप्ते सांसारिकदुःखप्रायमुखाभासस्य क्षण-
भङ्गगुरत्वेऽयमन्तकोटिकल्पपर्यन्तं जननमृणादिदुःखपरम्पराहेतुत्वेन व्रत्तिगृहि-
वन्याश्रमोक्तिबाधान्तःसंसारत्याग एव श्रेयानिति मनसि विधाय 'हे जाये त्वया मे
यत् कर्त्तव्यं तत्सर्वं कृत्वा, पुत्रनिवृत्तमेव तपश्चरन्ती ब्रह्मलोकं व्रज, इदानीमहं
लोकात्प्रापितुं दुःखदुःखदुःखं प्रवृष्टुमिच्छामि' इति जायामाश्वस्य प्रेषयित्वा
विदागो यथावत् संन्यासं कृत्वानित्यर्थः ॥ ७, ८ ॥

संन्यस्तस्य न श्रौतस्मार्ताग्निसेवनम्

संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनम् ॥ ९ ॥

कृतेऽपि संन्यासे मुक्तिहेतवे इतोऽधिकचित्तशुद्धयर्थं वा श्रौतस्मार्ताग्निसेवनं कर्तव्यनिर्विशेषब्रह्मज्ञानजनकचित्तशुद्धेः निष्कामबुद्धयानुष्ठेयमन्वर्कर्मनिमित्तादग्निसेवनं कार्यमिति तत्राह—संन्यस्येति । न ह्युर्नाणसगृत्पागे नौकां शिरसा वहति यथा तथा संप्राप्तसत्त्वशुद्धेः संन्यासिनः कृतकृत्यस्य न हि कर्मानुष्ठानापेक्षाऽस्ति तस्य निरग्नित्वात् । यत एवमतः संन्यस्य पुनः श्रौतं स्मार्तं वाग्निं कदापि न सेवेत । एवमग्निसेवाभावेऽपि यथोक्तकाले वचसा मनसा वापि प्रधानमन्त्रस्य कृत्स्नस्य वा न कदाप्यावर्तनमाग्नेडनं स्मरणं वा कुर्यात् ॥ ९ ॥

अग्निसेवने प्रत्यवायः

यन्मन्युर्जायमावहम् इति ॥ १० ॥

एवं कृते का हानिः इत्यत्राह—यदिति । योऽहं वर्णाश्रमव्यवस्थापक-श्रुतिगणः सोऽहं मृत्युर्भूत्वा परिव्राट्धर्मविगलस्य ते पूर्वसिद्धमपि जायं जायमानं वा परापरविषयकब्रह्मज्ञानमावहं प्रविशेयं, मृत्युः प्रमादः तदस्मरणं इत्थंभूतमृत्यु-ग्रस्तं ज्ञानमाभासज्ञानमज्ञानं वा भवेदित्यर्थः । यद्यत्स्वातिगृत्तया त्यक्तं तत् कदाप्यस्ति नास्तीति वा नहि स्मरेदित्यर्थः ॥ १० ॥

चित्तशुद्धयर्थं प्रणवादिमहावाक्यानां आवर्तनम्

अथाध्यात्ममन्त्राज्जपेत् ॥ ११ ॥

उत्पन्नचित्तशुद्धेः प्रयोजनाभावात् कर्म मास्तु । यद्यचित्तशुद्धेः संन्यस्यति तदा तच्चित्तशुद्धये कर्म विना किं ते अस्तीत्याशङ्क्य तस्यापि न कर्मास्ति, ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि प्रेषादिमन्त्रपूर्वकं सर्वकर्मणां त्यक्तत्वात् । यद्यशुद्धचित्तस्तदा स्वाश्रमानुष्ठानमविहाय स्वचित्तशुद्धये प्रणवमहावाक्यजातमावर्तयेदित्याह—अथेति ।

अथ विविदिषामन्त्यामानन्तरमध्यात्ममन्त्रान् प्रणवमहावाक्यानि ईशाद्यष्टोत्तर-
अतोपनिषदो वा स्वचित्तशुद्धये जपेन् ॥ ११ ॥

दीक्षानियमाः

दीक्षामुपेयात् । काषायवामाः । कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् ।
१ ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति । अनिकेतश्चरेत् । भिक्षाशी निदिध्या-
मनं दृश्यात् । पवित्रं धारयेज्जन्तुमंरक्षणार्थम् ॥ १२ ॥

तदपि श्लोका भवन्ति ।

कुण्डिकां चमसं शिष्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।

शीतोपघ्नातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ १३ ॥

पवित्रं स्नानशार्दीं च उत्तरासङ्गमेव च ।

अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ १४ ॥

नदीपुल्लिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः ।

नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥ १५ ॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।

स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ १६ ॥

भिक्षादि वैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।

एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥ १७ ॥

२ विश्रुतमनुष्ठेयं मनसा भावयेत् सुधीः ॥ १८ ॥

१ उ, १. ऊर्ध्वको बाहुः.

२ उ १. विश्रुतं.

आदेहपानं द्विविधब्रह्मचर्यदीक्षासुपेयान् । तत्रियमस्तु काषायवस्त्रधारणं ।
 कक्षोपस्थलोमवर्जनपूर्वकं श्रौतं, संन्यामानन्तरं ऊर्ध्वबाहुः प्रार्चामुर्ध्वं वा दिङ्
 प्रव्रजेत् । व्याविष्टपूर्वाचरिणसंन्यागमार्गो भवति । यदि श्रवणाद्यानानधिकारं तदा
 “अष्टौ मास्यंकार्का यनिश्चरेत्” इति श्रुत्यनुगोपेनानिकेतश्चरेत् । एकाग्रन्यागपूर्वकं
 नाश्रुकागदिवृत्त्या भिक्षाशी । यदि श्रवणाद्यधिकारं तदा अवधकसत्संवितापुण्यस्थले
 व्रतम् संग्रहादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणमननं निदिध्यामनं च कुर्वन् ।
 तत्फलदीप्त्यर्थं सर्वापह्नवमिदं ब्रह्म निःप्रतियोगिकस्वभावमिति दृष्ट्यान् ध्यायेत् ।
 जन्तुसंरक्षणार्थम् “सर्वं खल्विदं ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति” इति
 श्रुत्यनुगोपेन सर्वोत्सवभावनामिदमे पवित्रं पवित्रं निर्विशेषज्ञानं धारयेत् ॥
 “पवित्रं ज्ञानमुच्यते” इति श्रुतेः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रा
 अप्यनुवदन्तीत्याह—तदपीति ॥ परैः स्तूयमानः । कुण्डिकां कमण्डलुं चमसं
 नाकिंकिष्कपालार्थं त्रिविष्टपं त्रैलोक्यं मन्त्रोपधमहिम्ना तन्मन्त्राग्ननावुपानहौ
 पादत्राणनकर्तुं ॥ उत्तममङ्गं वेदान्तविचारसक्तिः ॥ भिक्षाद्याध्यानया वैदलं
 पत्रप्रथितपर्णपात्रं अवारितमावश्यकं स्नानद्रव्यं मृत्तिका । अयं धर्मः कुटीचका-
 दीनां समः । कुटीचकस्य तु चमसोपानहपवित्रभिक्षापात्राणि विशेषः ॥ कुण्डिकां
 इत्यादिमन्त्रैः यतीनां या वृत्तिर्भिहिता तां वृत्तिं यतेन्द्रियो भूत्वोपासीनः सदा
 अव्यात्ममन्त्रान् जपेत् । ततः यद्विश्वारोपापवादाधिकरणं विश्वार्थं विश्वार्थतनं
 तद्येन सीयते स मनुः प्रणवः तयोः परापरब्रह्मणोः संयोगमैक्यं मनसा प्रणवार्थं
 ब्रह्माहमस्मि इति सदा भावयेत् ॥ १२—१८ ॥

विश्वाधिष्ठानात् पञ्चभूतानां भेदः

आकाशाद्वायुर्वायोर्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।

एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्येऽजरममरमक्षरं प्रपद्ये ॥ १९ ॥

यद्विश्वाधिष्ठानं ततः पञ्चभूतानि भिद्यन्त इत्यत आह—आकाश इति ।
 तत्सकाशादाकाशः । आकाशादिपञ्चभूतानां ब्रह्मकार्यत्वेन कार्यकारणयोरैकत्वात्

एतेषां भूतानां यदारोपापवादाधिष्ठानं नत् ब्रह्मेति प्रपद्ये । अधिष्ठेयमापेक्षतांऽ-
धिष्ठानमपि ज्ञायन्प्रियत इत्यत आह—अजरममरमक्षरं प्रपद्य इति ।
अधिष्ठेयस्याकाशादेः स्वाज्ञानविकल्पितत्वेन कारणतुल्यत्वादिधिष्ठेयापाये निर-
धिष्ठानत्वात् नत् कदापि न हि ज्ञायते, नापि प्रियत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

यतः स्वानुभवप्रकटनम्

मय्यग्नण्डमुग्धाम्बोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।

उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ २० ॥

न मे देहेन संबन्धो मेघेनैव विहायमः ।

अतः कुतो मे नद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नमुषुप्तिषु ॥ २१ ॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।

अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्बोधिवन्पारविवर्जितोऽहम् ॥ २२ ॥

नारायणोऽहं नरकान्नकोऽहं पुरान्नकोऽहं पुरुषोऽहमीश्वरः ।

अखण्डबोधोऽहमशेषमाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥

विश्वस्यमनुसंयोगध्याता यतिः स्वानुभवं प्रकटयति—मयीति । ममाकाशवत्
कल्पनास्पृष्टत्वात् ॥ मेघः केनापि हतुंमशक्यत्वात् मेखदचलोऽस्मीत्यर्थः ॥
एवं नित्यानुसंधानतो विविक्कल्पं मनो भवति तेन कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥

योगाभ्यासेन ब्रह्मसाक्षात्कारः

तद्भ्यासेन प्राणापानौ संयम्य ।

वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।

संदश्य शनैर्जिह्वां यवमात्रविनिर्गताम् ॥ २४ ॥

माषमात्रीं तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।

श्रवणे नासिके गन्धायतत्त्वं न च संश्रयेत् ॥ २५ ॥

अथ शैवं पदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।

तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मना ॥ २६ ॥

यद्येवं ज्ञानं नोदेति तदा योगाभ्यासेन प्राणापानैक्यं कृत्वा षण्मुखीकरणेन कुण्डल्युद्बोधनं कृत्वा तथा ग्रन्थित्रयात्मकपडाधारं मित्वा सहस्रारे ब्रह्मसाक्षात्कारं कुर्यादित्याह—तदभ्यासेनेति । योगाभ्यासेन प्राणापानसंयमनपूर्वकं कुण्डलिन्या मुपुष्पां मेदयेत् इत्यत्र वक्ष्यमाणमन्त्रा भवन्तीत्याह—वृषणेति । वृषणापानमध्यं कर्तव्येन संपीड्य ॥ जिह्वावन्धनपूर्वकं माषमात्रलक्ष्यानुमन्धानपूर्वकं दृष्टिं श्रोत्राकाशे भुवि पदद्वये च संस्थाप्य । श्रवणनामिकागन्धग्रहणं पञ्चज्ञानेन्द्रियतद्विषयपञ्चकोप-
लक्षणार्थं । श्रवणादिपञ्चान्द्रियाणां शब्दादिपञ्चविषयायतनत्वं न च संश्रयेत् इन्द्रियेन्द्रियार्थसंबन्धं मनःसंकल्पसंबन्धं च न कुर्यादित्यर्थः । एवं कृते प्राणापानैक्यं भवति ॥ ततः कुण्डलिनी मुपुष्पां मित्वा अथ सहस्राक्षं चक्रं प्रविश्य रीयते । तथा साकं दृष्टानः प्राणाग्नयोऽपि शैवपदं यत्र विराजते तत्रैव लीयन्ते । तद्व्याधिकरणं ब्रह्मैव तद्व्यासापेक्षाधिकरणतापाये तदेव निष्प्रतियोगिकनिर्विशेषं परं ब्रह्मेत्यर्थः । एवमभ्यासः सफलो भवतीत्याह—तदभ्यासेनेति । योऽयं ज्ञानयोगोऽभिहितः पूर्वजन्मन्यार्जितः अभ्यस्त आत्मा स्वरूपं यम्य तेन पूर्वजन्मार्जितात्मना तदभ्यासेन योगिपटलभावनानुरूपं परापरे ब्रह्मणि लभ्येत ॥ तत्र निर्विशेषज्ञानिस्त्वात्तज्ञानममकालमेव ब्रह्मैव भवतीत्युक्तम् ॥ २४-२६ ॥

मविशेषज्ञानिनः क्रममुक्तिः

संभूतैर्वायुसंश्राव्य हृदयं तप उच्यते ।

ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्वित्त्वा मूर्धानमव्ययम् ॥ २७ ॥

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम्

भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः ॥ २८ ॥

अथ निविशेण्डुगनिः क्रममुत्तिताचष्टे—संभूतैरिति । सम्यक् भवन्तीति संभूतानि ब्रह्मान्तःकरणानि । तैः साकं यत्नविशेषज्ञानाग्निना तप्यते दीप्यते प्रकाशते इति तप इत्युच्यते । हृदयं प्रविश्य तत्रत्यवायुं प्राणवायुं संश्राव्य ब्रह्मन्ब्रह्मेदन्मन्धेरेति श्रुत्या तं प्राणमवष्टम्य सुषुप्तादौ देहादूर्ध्वं मूर्धानं भित्त्वा यदा ब्रह्माव्ययं तदेव प्रपद्यते ॥ तत् प्राप्य पुनः निवर्तन्त इत्यत्र—
“स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् भजन्ति । भूयस्ते न निवर्तन्ते परापरविदो जनाः” ॥ इति शबलब्रह्मोपासकाः सुषुप्तामार्गेण ब्रह्मन्ध्रं भित्त्वा मृगद्वारेण ब्रह्मलोकं प्रविश्य तत्र निविशेण्डुगान्वेषणं कुर्वन्तो यावदाभूतसंप्लवं तत्रापिन्वाथ वामनाभ्यन्तो ब्रह्मणा सह कैवल्यमेव कदापि न हि पुनर्गवर्तन्त इत्यर्थः ॥ २७, २८ ॥

निर्विशेषब्रह्मानिनां मोक्षः

न माशिषं मास्थभर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।

अविकारमुदामीनं गृहीधर्माः प्रदीपवत् ॥ २९ ॥

जले वापि म्यले वापि लुप्तत्वेप जडात्मकः ।

नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्वष्टधर्मैर्नभो यथा ॥ ३० ॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।

निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ ३१ ॥

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।

केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥ ३२ ॥

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।

स्वानन्दमनुमुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥ ३३ ॥

गच्छंस्निष्ठन्नुपविशच्छयानो वान्यथापि वा ।

यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः मदा मुनिः ॥ ३४ ॥

इत्युपनिषत् ॥

केचनत्रैव निर्विशेषं ब्रह्म विदित्वा कृतकृत्या भवन्ति इत्यत्र आभान्ताऽपि यद्यस्ति स्वातिरिक्तकलना तदा तत्साक्षिणो भूत्वा मुक्ता भवन्तीत्याह—न साक्षिणमिति । स्वदेहतदन्यत्रात्मात्मीयाभिमतिमुत्सृज्यानवगतब्रह्मानुसंधानपरि-
क्षाणस्वातिरिक्तभ्रमो मुनिः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मुखो भूत्वा कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ इत्युपनिषच्छब्दः कुण्डिकोपनिषत्पणिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवामुदेवंन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

कुण्डिकोपनिषद्वाख्या लिखिता स्वात्मबोधार्थी ।

कुण्डिकोपनिषद्वाख्याग्रन्थजानं ज्ञानं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशायष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे अनुस्मृतिसंख्याप्रकं
कुण्डिकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

जाबालोपनिषद्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

अविमुक्तोपासनम्

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम् । यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां
देवयजनं मर्वेषां भूतानां ब्रह्ममदनम् । अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां
देवयजनं मर्वेषां भूतानां ब्रह्ममदनम् । तस्माद्यत्र कचन गच्छति
तदेव 'मन्येनेति' । इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं मर्वेषां भूतानां
ब्रह्ममदनम् । अत्र हि जन्तोः प्राणेषुत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म
व्याचष्टे येनामावमृतीभूत्वा मोक्षीभवन्ति । तस्मादविमुक्तमेव
निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेत् । एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य एवमेवैतद्भगवन्
इति वै याज्ञवल्क्येति ॥ १ ॥

जाबालोपनिषत्ख्यातमन्यासज्ञानगोचरम् ।

वस्तुतस्तैपदं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यते ॥

शुद्धमुक्तोपासनं जाबालोपनिषत्तन्मात्रायां कर्मादिकाण्डत्रयं विद्यते । तत्र सकामिनां
कर्माण्डानुष्ठानतः चन्द्रलोकाभिः । निष्कामिनां कर्मोपासनाकाण्डसमुच्चयानुष्ठानतो

^१ ३१. मन्वते.

^२ ३. 'इति' इत्यस्य स्थाने 'तदविमुक्तमेव' इति कस्यते.

ब्रह्मश्रोत्रासिः । काण्डद्वयार्थविगतानां ब्रह्ममात्रामिहेतुञ्जतस्तद्व्ययजपसर्वकर्ममन्याम-
साधनसम्पन्नानां ब्रह्ममात्रामिसाधनभूतेयं ज्ञानकाण्डात्मिका जाबालेऽनपिडागव्या ।
तस्यास्तावदल्पप्रन्थतो विवरणमागम्यते । आख्यायिका विद्यान्तुत्यर्था ।
मिथिलोपवनप्रान्ते वादेन ब्राह्मणान् जित्वा म्वात्तपरब्रह्मविद्यया जनकं बोधयित्वा
स्वडिग्यगणेन सह याज्ञवल्क्यः पुनः मिथिलोपवने किञ्चित्कालमामाचक्रं । यः
सर्वज्ञकल्पस्तं याज्ञवल्क्यं अविमुक्तयत्नां जिज्ञासुर्वृहस्पतिरुवाच सर्वक्षेत्रादपि
यदनु प्रसिद्धम् । कुत्सितं पापकर्म रौर्ताति कुरुः । तस्य क्षेपणपूर्वकं स्वगतजनत्राण-
नान् कुरुक्षेत्रम् । यद्वा — कुः पृथिवी, तस्यां गौं शब्दं करोतीति कुरुः प्राण-
स्तदावासहेतुर्गर्गं कुरुक्षेत्रं तत्रयदेवनानामिन्द्रियाणां प्रवृत्तिनिमित्तदेवस्य प्रत्यक्चि-
द्भातोर्ध्वजनं^१ पूजाकारणम् । अत्र हीन्द्रियाणि स्वोचितविषयोपहारागन्तान् यजन्ति
सर्वेषां भूतानामिन्द्रियाधिष्ठानृणां वा ब्रह्मसदनं ब्रह्मास्मिन्स्थानम् । यथा देवयजन-
साधनं कुरुक्षेत्रं तथा विशेषणद्वयविशिष्टमान्तरं कुरुक्षेत्रमिति वृहस्पतिप्रश्नानुरोधं
मुनिराह— अविमुक्तमिति । यन्त्वरूपं स्वाविद्याकामकर्मविमुक्तं तदविमुक्तं ब्रह्म
यत्रोपलभ्यते तदेव^२ भूमध्यगताज्ञाचक्रं कुरुक्षेत्रम् । देवानामित्याद्युक्तार्थम् ।
यस्मादेवं तस्माद्यत्र कचन गङ्गाप्रयागादिस्थले तद्विपरिणते वा गच्छति
तदेवाविमुक्तमिति मन्येत जानीयात् । इति अनेन प्रकाशेण । इदं वै मया प्राप्तमेव
ब्रह्म । कुरुक्षेत्रमित्याद्युक्तार्थम् । क्षेत्रसामान्यस्य क्षेत्रज्ञविकल्पितत्वात् तदतिरेकेण
न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । अत्राविमुक्तरूपे कुरुक्षेत्रे ब्रह्मेति विज्ञाने तद्विज्ञानानुरोधेन
जन्तोः प्राणिमात्रस्य प्राणेषूत्क्रममाणेषु । स्वाज्ञानरुजं द्रावयति नाशयतीति रुद्रः
परमेश्वरः संसारतारकं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं व्याचष्टे कथयति । येन “तत्त्व-
मसि”, “अहं ब्रह्मास्मि” इत्युपदेशेन असौ जीवोऽमृतीभूत्वा स्वातिरिक्तभ्रमतो
मोक्षीभवति स्वातिरिक्तापहवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रतयावशिष्यते । यस्मा-
देवं तस्मान् ब्रह्ममात्रज्ञानोत्पत्तेः प्रागविमुक्तं भूमध्यगतज्योतिर्लिङ्गमेव निषेवेत
ज्योतिर्लिङ्गमास्मि इत्यनुसंधानं कुर्यात् ।

^१ उ१. पूजाकारणम् .

^२ उ. ‘तदेव’ नास्ति.

“न्यातिर्दिङ् श्रुवामध्वे नित्यं ध्यायेत् मदा यतिः”

इति श्रुतेः । यावद्ब्रह्मात्रज्ञानं नोदेति तावदविमुक्तं ^१प्रत्यक्षमात्मानर्माश्वरं वा न विमुञ्चेत् । याज्ञवल्क्येनैवमुक्तो बृहस्पतिस्तदुक्तमङ्गीचकारेत्याह — एवमेवेति ॥१॥

इति प्रथमः खण्डः

अविमुक्तस्त्वप्पजिज्ञासा

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा नं कथमहं विजानीयामिति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्तं प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

कथं पुनः अविमुक्तान्मोपामितुं शक्यस्तस्याव्यक्तत्वादित्यविमुक्तयाथात्म्यबु-
भुत्सया याज्ञवल्क्यमत्रिः पप्रच्छेत्याह — अथेति । अथ ह बृहस्पतिप्रश्ननिर्णयानन्तरं
किं न याज्ञवल्क्यं ब्रह्मपुत्रोऽत्रिः पप्रच्छ । किमिति । यस्तावत्प्रहेत्युक्त एषोऽनन्तः
परिच्छेदत्रयविग्लोऽव्यक्त आत्मा तमुक्तलक्षणमात्मानं कथमहं विजानीयामव-
गच्छेयं इति । अत्रिप्रश्नान्नं स होवाच याज्ञवल्क्यः बृहस्पतिं प्रति । तावत्त्वेन य
उक्तः सोऽविमुक्तः प्रत्यगभेदेनोपास्यः । तत्र हेतुः भवता प्रष्टो य एषोऽनन्तोऽ-
व्यक्त आत्मा व्याख्यातम् । सोऽविमुक्ते मोपधिकेश्वरं प्रतिष्ठित इति तस्य
निगृह्यत्वान् तस्मिन्व्यक्ताऽनन्तान्मोपलभ्यते ॥ १ ॥

अविमुक्तोपलब्धिमात्मनः

मोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां
च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै वरणा का च नासीति ।

सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन^१ वरणा भवति । सर्वा-
निन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नामी भवतीति । कर्ममञ्चाम्य
स्थानं भवतीति । भ्रुवोर्ग्राणम्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकम्य
परम्य च संधिर्भवतीति । एतद्वै संधिं मंध्यां ब्रह्मविद् उपासन् इति ।
सोऽविमुक्त उपास्य इति । सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेवं
वेदति ॥ २ ॥

तदुपलब्धस्थानं पृच्छति—सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ।
सोऽयमीश्वरः कुत्र संनिहितः इति पृष्टः उत्तरमाह—वरणायां नास्यां च मध्ये
प्रतिष्ठित इति । वरणानास्योर्मध्ये प्रतिष्ठित इत्यर्थः । वरणानामीप्रदेशौ श्रुतिव्या-
क्रियतेति न व्याख्यातम् । वरणानासीस्वरूपं पृच्छति—का वै वरणा का
च नासीति । तत्र वरणाशब्दार्थं व्युत्पादयति—सर्वानिति । सर्वान् ज्ञान-
कर्मैन्द्रियकृतान् दोषान् वारयति निवारयतीति । तेन वरणा भवतीति ।
सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् पापानि नाशयतीति । तेन नासी नाशो भवति ।
सकारः शकार्थः । वरणाया नास्याश्च मध्ये प्रतिष्ठित इत्युक्त्या नामाभ्रसन्धिः
प्रतीयते । तथापि तत्प्रदेशं पृच्छति—कर्ममञ्चास्य स्थानं भवतीति । अस्या-
विमुक्तस्येत्यर्थः । सर्वत्रेतिशब्दः प्रश्नपरिसमाप्त्यर्थः । भ्रुवोर्ग्राणस्य च यः
प्रसिद्धः सन्धिः स एष प्रसिद्धः ब्रह्मकपालस्थानीयचुलोकस्य चुबुकावसानस्था-
नीयस्य च परस्य च भूलोकस्यापि सन्धिर्भवति । लोकद्वयसमुच्चयार्थश्चकारः ।
एतद्वै एतमेव । स संधीयते अस्मिन्नविमुक्तमिति सन्धिः स्वात्मा । तं सन्धिं
स्वात्मानं मंध्यां भ्रूग्राणसन्धौ ब्रह्मविद् उपासते तत्रत्यज्योतिर्लिङ्गध्यानपरा
भवन्ति । सोऽविमुक्त उपास्यः इति व्याख्यातम् तज्ज्ञानफलमाह—यो वा इति ।
यो वै विद्वान् अविमुक्तयाथात्म्यं वेद तद्गन्तव्यं शमपोह्य निर्विशेषात्मानं जानाति

^१ उ. 'तेन' नास्ति.

स विद्वान् सोऽविमुक्तस्तत्माश्रित्वा गृहेतुं ज्ञानमाचष्टे न्वयस्मांश्च भावमेव स्वभक्त-
दण्डवत्तदुपायां तावकज्ञानोपदेष्टुं कुरुति । न्वयं निर्विशेषब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

इति द्वितीयः खण्डः

अविमुक्तज्ञानोपायः

अथ हैनं ब्रह्मचाणि ऊचुः । किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति ।
स होवाच याज्ञवल्क्यः । शतरुद्रीयेणेति । एतान्येव ह वा अमृतस्य
नामधेयानि । एतैर्ह वा अमृतो भवतीति ॥ १ ॥

अविमुक्तयाथान्यज्ञानोपायं ब्रह्मचाणिः पृच्छन्तीत्याह—अथेति । अथ
अत्रिप्रश्ननिर्णयानन्तरं ह किल एनं याज्ञवल्क्यं तच्छिष्या ब्रह्मचारिण ऊचुः ।
किं जप्येनामृतत्वं केन जप्येनामृतत्वमाधनज्ञानं जायते तद्ब्रूहि भगवन्नि ।
तैः पृष्टः स होवाच याज्ञवल्क्यः । किमिति । कैवल्यादिपञ्चरुद्रेण स्टाध्यायेन
वेति अमृतत्वमाधनज्ञानं जायते ततोऽमृतत्वमित्येतानि शतरुद्रीभिधानानि
अमृतस्वरूपरुद्रीनामधेयानि भवन्ति । एतैः शतरुद्रीयजपैः चित्तशुद्धिप्राप्यज्ञानद्वारा
शतरुद्रीर्जाया मुनिगम्यतो भवति । इति शब्दः खण्डसमाप्त्यर्थः ॥ १ ॥

इति तृतीयः खण्डः

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानविज्ञासा

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच ।
भावन्मन्यासमपूरीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्य^१

^१ उ. परिष्कारः.

समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा
प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ
पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा
यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

सर्वकर्मसंन्यासज्ञानबुभुत्सया जनको मुनिपृच्छतीत्याख्यायिकामवनाग्यनि—
अथेति । अथ ब्रह्मचारिप्रश्नानन्तरं नामतो जनको ह वैदेहो विदेहगजो
याज्ञवल्क्यमुप समीपमेत्योवाच । किमिति । हे भगवन् सर्वकर्मसंन्यासमनु-
ब्रूहीत्युक्तः स होवाच याज्ञवल्क्यः । किमिति । अविर्क्तदृष्टिमाश्रित्याश्रम-
व्यवस्थामाह—ब्रह्मचर्यमिति । विद्याग्रहणनिमित्तब्रह्मचर्यं तेनैव कालं नयेत्
यद्यविर्क्तस्तदा तत्समाप्य गृही भवेत् । तत्र यावच्छक्ति निष्कामबुद्ध्या सत्कर्मानुष्ठानं
कुर्वन् कालं नयेत् तत्र विगतिश्चेत्तदा गृहाद्वनी साग्निरनिग्निरवा भूत्वा तत्रैव कालं
नयेत् । यद्यव्युद्धिस्तदा प्रव्रजेत् चतुर्थाश्रमं गच्छेत् । एवं क्रमेण संन्यासः
कर्तव्यो न विपर्यय इत्यत आह—यदि वेति । यदि वेति पक्षान्तरे विकल्पः
तीव्रतरवैराग्यं जायते तदार्थानवेदान्तो विद्वान् प्राथमिकब्रह्मचर्याश्रमादेव प्रव्रजेन्
पागमहंस्याश्रमं गच्छेत् । ब्रह्मचर्यसमाप्त्यनन्तरं कुटीचकादिक्रमेण पागिवाज्यं
ग्राह्यमिति चेन्न तत्क्रमस्य मन्दविगगिविपर्यत्वात्, वैराग्यसाकल्यं पागमहंस्यमेव
स्वीकर्तुं शक्यमित्यर्थः । यदि गृहस्याश्रमे विगतिर्जायते तदा गृहाद्वा प्रव्रजेत्
वनाद्वा । प्रव्रजनस्य वैराग्यनिमित्तत्वात् न क्रमाकाङ्क्षास्तीत्यर्थः । यदा
विगतिर्जायते तदाश्रमत्रयान्तर्गळेऽपि न्यासो युज्यत इत्याह । अथेति वैराग्या-
नन्तर्यार्थः । वनस्थदीक्षासमाप्तावपि कुतश्चिन्निमित्तात् संन्यासो न लभ्यते तदानीं
तदवस्थितिः द्विधा भवति जपो ध्यानं चेति । तदेव हि तद्व्रतम् । तदस्यास्तीति
व्रती । न व्रती अव्रती वा, यद्वा व्रती वा, अधीतसाङ्गस्वाध्याया स्नानकः,
यत्किञ्चिद्देवाध्याय्यस्नातको वा, गृहस्थोऽपि द्वेधा नाश्रमा भवति एकस्वीकृताग्निः
कळत्रमरणादुत्सन्नाग्निः, कळत्रे सत्यपि कश्चित् निरग्निः असंस्कृतत्वात्, येनाग्निं
गृहीतः सोऽयमनग्निको वा विरक्तिर्जाता चेत् गृहस्थादिति सर्वत्रानुषज्यते ।

किं बहुना । नात्र कालकृत्तनियमेऽन्त्याह—यदिति । यस्मिन्नेवाहनि विरजेन
वेगान्यं प्राप्नुयान् तस्मिन्नेव अहनि प्रव्रजेन् संन्यमेन् ॥ १ ॥

आहिताग्निमन्यामविधिः

तद्वैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् ।
आग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्हि वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति ।
वैधानवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत मत्त्वं रजस्तम
इति ।

अयं नै योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।

नै जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया गयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । ^१एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः ।

प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

यदा आहिताग्निः संन्यस्यति तदा तस्येष्टिविशेषमाह—तदिति । तद्वैके के-
चनाचार्याः प्राजापतिदेवताकां प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति तदु । तेषामुक्तमपि न
कुर्यात् । किं कर्तव्यमित्यत्र अग्निदेवताकामाग्नेयीमिष्टिमेव कुर्यात् । तत्रेयमुपपत्तिः ।
अग्निर्हि प्राणः । अग्नेर्देवप्रधानत्वेन सूत्ररूपत्वात् यस्मादेवं तस्मादेतया आग्नेयेष्टया
प्राणमेव करोति तत्स्वधातवीयामेवेन्द्रदेवताकामेवेष्टिं याज्ञिकप्रसिद्धां कुर्यात् ।
तत्रोपपत्तिः । एतयैवेष्टया त्रयो धातवो यदुताग्नेयं रूपत्रयं सत्त्वं गुह्यं रजो
गेहितं तमः कृष्याम् । इतिशब्दो वाक्यसामान्यर्थः । पुनोत्तराया यथाशास्त्रमिष्टिं
कृत्वा अनेन मन्त्रेण अग्न्याप्राणं कुर्यादित्याह—अयमिति । हे अग्ने अयं प्राणस्ते
त्वं योनिः मुख्यप्राणस्य विगडयोनित्वात् ऋत्वियः संवत्सगात्मनो ऋत्ववय-
क्त्वाद्यतः सूत्राज्जातः सन्नरोचथाः दीप्तिं कृतवानसि यस्तत्त्वं कारणं तमात्मानं
जानन्नागेह स्वकारणाभूतप्राणमात्रो भवेत्यर्थः । अथ स्वकारणप्रवेशानन्तरं

नोऽस्माकं रयिं स्वात्मज्ञानधनमभिवर्धय । मन्त्रसमामावितिशब्दः । अनन
मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । मन्त्रार्थं श्रुतिगनुवदति । एष वा अग्नेयोनिर्धः प्राण इति ।
स्पष्टम् । प्राणं स्वकारणं गच्छ । स्वाहाशब्दः कार्यकारणैकत्वद्योतकः । एवमेव
मन्त्रोऽप्याह हि ॥ २ ॥

निरग्निक्संन्यासविधिः

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु
जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि
स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्माज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्र-
व्रत्येवं विन्देत्^१ । “तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । एवमेवैतद्भगवन्निति
वै याज्ञवल्क्य ॥ ३ ॥

इदानीं निरग्निकानां संन्यासविधिमाह—ग्रामादिति । ग्रामे श्रोत्रियागा-
गदग्निमाहृत्य पूर्ववदिष्टिव्यतिरिक्तविरजाहोममन्त्रपुरूपमूक्ताभ्यां पूर्णाहुत्यन्तं हुत्वा
“अयं ते” इति मन्त्रेण संन्यासाश्चर्युरग्निमाघ्रापयेत् । पक्षान्तं यदग्निं
न विन्देदप्सु जुहुयात् । तत्रोपपत्तिः आपो वै सर्वा देवताः । ओंकारप्र-
मवन्त्यः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा इत्यनन मन्त्रेण हुत्वोद्धृत्य
प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम् । हुतशेषमन्नं निरामयंहतुत्वात् तदानीं
यज्ञयं तदुच्यते स्वाज्ञानमोक्षहेतुमन्त्रः प्रणवस्तस्य त्रयीरूपत्वात् । एवं विन्देत्
यत् प्रणवार्थरूपं तदस्मीति विद्यात् । यत्सत्यज्ञानादिलक्षणं तद्ब्रह्म प्रणवार्थत्वे-
नोपासितव्यम् । एवं याज्ञवल्क्योक्तं जनकोऽङ्गीचकार । किमिति । एवमेवैत-
द्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्येति । एष इति पाठे संन्यासः ॥ ३ ॥

इति चतुर्थः खण्डः

^१ उ. वदेत्.

^२ उ. एतद्ब्रह्म एतदुपासितव्यम्.

ब्राह्मणस्य संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । पृच्छामि त्वा याज्ञ-
वल्क्यायज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः ।
इदमेवाम्य यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्य । अयं विधिः
परिव्राजिनाम्^१ ॥ १ ॥

जनकेन यन् प्रष्टव्यं तदनुज्ञया अत्रिः पप्रच्छेत्याह श्रुतिः—अथेति । अथ
ह जनकप्रश्नानन्तरं एतं याज्ञवल्क्यं जनकचोदिनोऽत्रिः पप्रच्छ । किमिति ।
हे याज्ञवल्क्य त्वा त्वां पृच्छामि क्रियाङ्गयज्ञोपवीती ब्राह्मणः इति लोकप्रसिद्धिः ।
अयं तु अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणो भवतीति पृष्टः स होवाच याज्ञवल्क्यः ।
इदं ब्रह्मज्ञानमेवाम्य संन्यासिनां यज्ञोपवीतं यज्ञरूपविष्णुप्रापकत्वात् यः
मय्यंप्रकाशात्मा सोऽहमस्मीति निश्चिन्य । अपः प्राश्य इत्यनेन संन्यासविधिरुक्तः ।
तत् कथं प्रैषानन्तरं “समुद्रं गच्छ स्वाहा” इत्यनेन मन्त्रेण जले डिग्वायज्ञोप-
वीतप्रक्षेपणपूर्वकं त्रिगचम्य । अयं विधिः परिव्राजिनाम् ॥ १ ॥

संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यनिष्पणम्

वीराध्वानं वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा
महाप्रस्थानं वा । अथ परिव्राड्विवर्णवामा मृण्डोऽपरिग्रहः
शुचिरद्रोही^२ भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति । यद्यातुरः स्यान्मनसा
वाचा संन्यमेत् । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तनैति संन्यासी
ब्रह्मविदिनि । एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ २ ॥

^१ उ. परिव्राजकानाम्.

^२ उ. भैक्षानो.

श्रत्रियादेः पात्रिब्राज्यानधिकारादाश्रमभ्रष्टानामनाथ्यचिकित्सामयाना श्रवणा-
द्यमर्थानां वा वक्ष्यमाणोऽयं विधिर्युज्यत इत्याह—वीरेति । मन्त्रामानिर्वर्तिर्वागणं
योऽध्वा तस्मिन् वीराध्वाने वा, न विद्यते अशनं यस्य तदनाशकं तस्मिन्ननाशके
वा गङ्गाद्यपां प्रवेशे वा जाज्वल्यमानाग्निप्रवेशे वा यावच्छर्गापातगमने महाप्रस्थाने
वा तनुं न्यजेदिति पञ्चप्रकारोऽपि योज्यम् । यद्ययं श्रवणाधिकारी तदा शुद्धेन कापाय-
वासाः मशिवकेशश्मश्रुगाहित्यान्मुण्डः । न विद्यते देहमात्रधाणानिर्गन्तुपरिग्रहो
यस्य सोऽयं अपरिग्रहः । बाह्याभ्यन्तरगोचतः शुचिः मनोवाक्कायकर्मभिः
प्राणिमात्राद्रोही प्राणसंवागणार्थं भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मनाश्नात्कागय भवति ।
पश्चान्तरं चारव्याग्रगेगाद्यभिभूतस्य संन्यासाङ्गकर्म कर्तुमशक्यत्वात् । सोऽयं
वक्तुं शक्तश्चेत् मनोयुक्तवाचा प्रयोच्चारणपूर्वकं संन्यसेत् । यदि तत्राग्न्यशक्तस्तदा
मनसैव वा संन्यसेत् संकल्पयेत् । एष ज्ञानहंतुपन्था ब्रह्मणाधिकाणि हानुवित्तो
लब्धः तेनोक्तेन पथा ब्रह्मवित्पथा संन्यासी स्यात्तत्रोधानुरूपं ब्रह्मैति यदि
निर्विशेषज्ञानी तदा विदेहकैवल्यमेतीति मुनिनात्तमत्रिङ्गचकार एवमेवैष
भगवन्निति वै याज्ञवल्क्येति ॥ २ ॥

इति पदमः खण्डः

पारमहंस्यपूगस्य सर्वोत्कृष्टता

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्चेतकेतुदुर्वासन्नभुनिदाद्य-
जडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुमत्ता
उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ १ ॥

इदानीं याज्ञवल्क्यो मुनिः श्रोतृश्रद्धाभिवृद्धये तैरपृष्टोऽपि पारमहंस्यधर्मपूगस्य
महद्भिगाश्रितत्वेन सर्वोत्कृष्टतां प्रकटयति—तत्रेति । तत्र कुटीचकादिषु श्रुत्युक्तेषु
तुर्याश्रमतुर्यमेदानुष्ठायिनः परमहंसा नाम वक्ष्यमाणाः प्रसिद्धा हि । के ते

इयत्र संवत्क्रादिरत्रतकप्रभृतयः नवसंव्याकाः श्रुतिप्रतिताः अव्यक्तलिङ्गाद्या-
चरन्त इत्यन्तं संवत्क्रादीनां विशेषणम् । व्रतिकास्मिन्निङ्गानि येषां न सन्ति ते
अव्यक्तलिङ्गाः । यदाचारो ऐक्यं इत्यने ते अव्यक्ताचाराः । अनुत्पत्ताः
उत्पत्तेहेतुमन्त्रैरग्न्यादृन्मत्तवदाचरन्तः ब्रह्माकारपणितचित्तत्वात् पञ्चोदिताः
यत्किञ्चित् कुर्वन्त इव इत्यन्ते तत्करणमपि लोकोन्मादननिवृत्तिकमेव भवति ।

“ पार्श्वस्थत्रोदिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमगतम् ।

आचारमाचरन्त्येव मुपबुद्धवद्वृत्तिताः ॥ ”

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

मान्वरपरमहंसलक्षणम्

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिष्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोप-
वीतं चैन्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यान्मानमन्विच्छेत् ॥ २ ॥

पूर्वं केवलपागमहंसमुक्तम् । इदानीं कुटीचकादिलिङ्गपरिग्यागपूर्वकं पागमहंस्यं
प्रकटयति—त्रिदण्डमिति । वैणवदण्डत्रयं मृदार्वाल्वादिकमण्डलुं मौञ्ज्यादि-
गचितं शिष्यं भिक्षाधारापात्रं दावादिविकागं चितस्मिमात्रं जलपवित्रं शिखां
यज्ञोपवीनम् । चकारः सर्वधर्मपरिग्यागममुच्चार्यः । पञ्चमुद्रागायत्र्यादि-
कमेतत्सर्वं “ भूः स्वाहा ” इत्यनेन मन्त्रेण अप्सु परित्यज्य देविकमुपमृत्य
वेदान्तश्रवणादिभिरात्मानमन्विच्छेत् ॥ २ ॥

दिगम्बरपरमहंसलक्षणम्

यथाज्ञानरूपधरो निर्द्वन्द्वो ^१ निष्परिग्रहः ^२ तत्त्वब्रह्ममार्गे
सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो
भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण ^३ लामालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृह-

^१ उ. निर्गन्धः.

^२ उ. तत्त्वब्रह्म.

^३ उ. लामालाभयोः समः.

तृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहर -
कन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यान-
परायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं
करोति म परमहंसो नाम । इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

साम्ब्रपरमहंसलक्षणमुक्त्वा दिगम्बरपरमहंसलक्षणमाह— यथेति । यथा-
जातरूपधरः दिगम्बरः निर्द्वन्द्वः शीतोष्णादिसमर्थाः । देहधारणोपयोगी
कौपीनाच्छादनभिक्षाश्रयणसाधनपरिग्रहं परिग्रहशून्यो निष्परिमहः । तत्त्वं वास्तवं
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रं तत्प्रापकमार्गस्तज्ज्ञानं तस्मिन् तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्मपन्नः
तन्निष्ठ इत्यर्थः । तत्रोपायमाह— शुद्धमानस इति । निस्सङ्कल्पत्वात् प्राणसंधारण-
मात्रं विधूमाद्युपलक्षितयथोक्तकाले स्वाज्ञानतत्कार्यविमुक्तो यथालुप्तपमुदरपात्रेण
भैक्षमाचरन् मुक्त्व्यादानं कुर्वन् भिक्षादिलाभालाभौ समौ भूत्वा हर्षविषादाव-
कुर्वन् कालं नयेदित्यर्थः । इदानीं तन्निवासस्थलान्याह— शून्यागारेत्यादिना ।
जनशून्यागारं विप्रवादिदेवतागृहं, कुतश्चिन्निमित्तसंजाततृणकूटं, पिपीलिकादि-
कृतवल्मीकं, वटाश्वत्थादिवृक्षमूलमामपात्रनिक्षेपकुलालशालात्रिपञ्चाग्निहोत्रशाला,
महानदीर्गापुलिनं, गिरिरूढवेणवादिनिविडदेशो गिरिकुहरं, गिरिगुहास्थलं कन्दरं,
वृक्षान्तस्सुपिणं कोटरं, उदकस्त्रावप्रदेशो निर्झरः, विशुद्धभूप्रदेशः स्थण्डिलं,
निगवर्णं शून्यागारादिस्थण्डिलान्तम् । तेषु यथासंभवं अनिकेतवासी नानाविधोप-
करणे प्रयत्नः स्वातिरिक्तवस्तुषु निर्ममः शुक्लेनो ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्त्वमात्रमिति
पर्यवसन्नः शुक्लध्यानपरायणः । “ शुक्लेनोमयं ब्रह्म ” इति श्रुतेः । आत्ममात्र-
मधिकृत्य भवतीत्यध्यात्मं तन्मात्रज्ञानं तन्निष्ठः शुभाशुभस्थानीयनिष्कामसकाम-
कर्मसामान्यनिर्मूलनपरः । किं बहुना । स्वातिरिक्तसामान्यसंन्यासेन सह
संन्यस्यास्मीति यस्तद्देहाभिमतित्यागं करोति सोऽयं विद्वान् परमहंसः
प्रत्यक्परविभागसहः परमात्मा नाम निश्चितम् । इत्युपनिषत् ॥ ३ ॥

इति षष्ठः खण्डः

श्रौत्रानुदेवेन्द्रशिष्येऽपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 त्रिगुणं स्याद्विवर्णं जाबालोपनिषत्सुकुटम् ।
 जाबालोपनिषद्ब्राह्म्या दशोऽनद्विजितं स्मृता ॥

इति श्रीनर्ददायशेनपुत्रोपनिषच्छास्त्रविवर्णे त्रयोदशमं ब्रह्मपुस्तकं
 जाबालोपनिषद्विवर्णं सम्पूर्णम्

तुरीयातीतावधूतोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

तुरीयातीतावधूतवर्था, निश्चयः च

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोकपितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिममेत्योवाच । तमाह भगवान्नारायणः । योऽयमवधूतमार्गस्यो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते । महापुरुषो यस्तच्चित्तं मन्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा, दण्डकमण्डलुकटिसूक्ष्मैर्पीड्य^१ आदनस्त्वविध्युत्तक्रियादिकं सर्वमप्यु संन्यस्य, दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संन्यज्य, तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्, सौराम्यङ्गज्ञानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय,

^१ वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य, सर्वत्र पुण्यापुण्यविवर्जितः, ज्ञानाज्ञान-

नपि विहाय, शीतोष्णमुत्तुःस्वमानावमानं निर्जिन्य, देहादि-
 तामनात्रयपूर्वकं निन्दानिन्दागर्वमन्मदम्भदपेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभ-
 मोहहर्षामर्षामूयात्ममंगलणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुणपाकागमिव
 श्यन्, अप्रयत्नेनानियमेन लाभान्नाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या
 णमंभारणं कुर्वन् यन्प्राप्तं तेनैव निर्जोलुपः, सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं
 स्मीकृत्य, स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठान्येष्ठत्वापलापकः, सर्वो-
 कृष्टत्वमर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्यो-
 प्तीति भावनम्य देवगुह्यादिधनमात्मन्युपमंह्य, दुःखेन नोद्विग्नः,
 खेन नानुमोदकः, रागे निःस्पृहः, सर्वत्र शुभाशुभयोग्नभिन्नेहः,
 वैन्द्रियोपरमः, स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्,
 तत्कर्माश्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तममत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा
 चारशीलः, देहमात्रावशिष्टः, जलमथलकमण्डलुः, सर्वदानुन्मत्तो
 लोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्, अमम्भाषणपरम्य स्वरूपध्यानेन
 शालन्ममबन्धन्य, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वं विस्मृत्य, तुर्गयाती-
 तवधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः
 उधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

तुर्गयातीताख्योपनिषद्वैद्यं यत्परमाक्षरम् ।

तत्तुर्गयातीतचिन्मात्रं स्वमात्रं चिन्तयेऽन्वहम् ॥

इह कलुः शुद्धयुर्वेदप्रविभक्तयं तुर्गयातीतावधूतोपनिषत् गौणमुग्व्याव-
 द्भक्तमन्त्रं ब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः स्वल्पप्रस्थितो
 भावः । शिष्याचार्यपुत्रपुत्रिभावंगतचतुरात्मनोऽपि प्रश्नप्रतिवचन-

रूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुत्या । आख्यायिकामवतान्यति—अथेति । तुर्याश्रम-
प्रविभक्तकुटीचकवह्मदकहंसपरमहंसचर्या यथावदवगम्य. अथ तुर्यमंग्याष्टकं
पारमहंस्यं, तदतीनामनुर्यातीनाश्च ते ।

“यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः मदा ।

अनिवर्णाश्रमी योगी अवधृतः न कथ्यते ॥

अक्षरचाङ्गेण्यत्वाद्भूतसंसारवन्धनान् ।

तत्त्वमन्यादिलङ्घ्यत्वादवधृत इतीयेते ॥”

इति “गौणमुख्यावधूताश्च” इति तुरीयातीतावधूताः । तेषां महानुभावानां कोऽयं
मार्गः इत्यनेन तैगचरणीयचर्या अवगम्यते । का स्थितिः इत्यनेन निष्ठा चापि
ज्ञातव्येति । तत्प्रश्नमङ्गीकृत्य तमाह भगवान् नारायणः । किं नत् इत्यत्र
तन्मार्गस्यानिदृष्टमनया नानादौ स्तौति—योऽयमिति । नित्यपूतः^१ मयि
मद्भावेय स्थितत्वात् । मद्भावापन्नज्ञानिनो मन्यन्ते अत एवायं महापुरुषः ।
कथमस्य महापुरुषत्वं इत्यत्र यतो यस्तच्चित्तं मय्येवावनिष्ठते मदनिरिक्तचिन्ता-
वैगत्यात् । त्वं कुत्रावस्थित इत्यत्र—अहं च तस्मिन्नेवावस्थित इति ।
कुटीचकादिधर्मा नारदपरिव्राजकोपनिषदि सम्यग्व्याख्याताः । तत्रायं परमहंसः
सर्वापह्वमिदं ब्रह्मनिग्रन्थिगोपनिषत्प्रमाणम् । स्वरूपानुसन्धानेन सर्वप्रपञ्चं
स्वातिरिक्तं^२ नेतीति विदित्वा तद्वेदनसमकालमेव पारमहंस्यलिङ्गं त्याज्यमिति
मनीषया तत्रापि संसारविद्या तत्याग उपपद्यत इत्यर्थः । तदूर्ध्वं पारमहंस्याश्रम-
न्यागानन्तरं कर्तव्यकर्माभावाद्देहादिचेष्टायाः^३ मन्वानाकांक्षत्वात् अमन्त्रवदाचरणम् ।
इदं कर्तव्यमितीच्छ्या क्षौरादिकं विहाय तथा वैदिकलौकिकमप्युपसंहृत्य ।
मनोवृत्तित्वसामान्यात् ज्ञानाज्ञानमपि विहाय देहाभिमानस्यागासिना शीतोष्ण-
सुखदुःखमानावमानं निर्जित्य । देहादिवासनात्रयपूर्वकं अहं एतादृश
इत्यप्रकटनपूर्वकं स्वरूपं स्वशीलं गोपयित्वा । अयं मे ज्येष्ठः अयं मे कनिष्ठः
इति ज्येष्ठाज्येष्ठत्वापलापकः । अद्वैतातिरिक्तं द्वैतं नास्तीति भावयित्वा
देवगुह्यान् देवगृहस्थात् यत्तदेव भावनं तत् इन्धनं ब्रह्ममात्राग्निना दाह्यत्वात्

^१ उ. नित्यपूते.

^२ उ. ‘स्वातिरिक्तम्’ इति नास्ति.

^३ उ. चेष्टाये.

नार. परिव्राजकोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः

नागदं प्रति शौनकादीनां प्रश्नः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकमंचारं कुर्वन्न-
पूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य, चित्तशुद्धिं प्राप्य,
निर्वैरः, शान्तः, दान्तः, सर्वतो निर्वेदमामाद्य, स्वरूपानुसंधानमनु-
संधाय, नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिशारण्यं
पुण्यस्थलमवलोक्य, मरिगमपधनिमंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः
प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजङ्गमनामकैर्मगवद्भक्ति-
विशेषैर्नरमृगकिम्पुरुषामरकिन्नराप्सरोगणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं
भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्त्वयागोपस्थिताः श्रुताध्ययन-
संपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः
प्रत्युत्थानं कृत्वा, नत्वा, यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा, स्वयं
सर्वेऽप्युपदिष्टा भो भगवन्ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं
वक्तव्यम् ॥ १ ॥

पाग्नित्राज्यधर्मपूगालङ्कारा यत्प्रबोधनः ।

दशप्रणवच्छ्रयार्थं यान्ति तं गममाश्रये ॥

इह श्रुत्वा अथवर्णवेदप्रविभक्त्यं नागदपरित्राजकोपनिषत् त्रयादिस्वाश्रमाचार-
प्रकटनपूर्वकं कुटीचकवद्बृहद्वह्मसंभ्रमंमनुगीयार्तानावद्युतधर्मप्रकटनव्यग्रा सृष्ट्यादि-
दशप्रणववाच्यच्छ्रयार्थप्रकाशितो मर्वापह्नवनिद्रव्रह्ममात्रपर्यवसन्ना ब्रह्मर्थगर्भिणी
विजृम्भते । अस्याः म्वल्पप्रत्यक्षो विवर्णमारभ्यते । शौनकादिमुनिवृन्दनारद-
नागदपितामहप्रभृतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यान्तुत्यर्था । आदौ श्रुतिगव्यायि-
कामवनागत्यति—अथेत्यादिना । अथशब्दः आरम्भार्थः । कदाचिन् परित्राजक-
तिरोमणिः नारदः कृत्स्नलोकसंचारं कुर्वन् स्वपादस्यासतः पुण्यस्थलानि
पुण्यतीर्थानि च तीर्थीकुर्वन् स्वातिरिक्तप्रपञ्चज्ञानं निध्यात्वेनावलोक्य ततश्चित्त-
शुद्धिं प्राप्य सर्वान्मैकत्वभावनया निर्वैरः सङ्कल्पादिवृत्तितः शान्तो बाह्यवृत्तितो
दान्तः सर्वतः सर्वत्र निर्वेदं वैराग्यमासाद्य स्वस्वरूपानुसन्धानमनुसंधाय ।
उक्तविशेषणविशिष्टं नैमिशारण्यमवलोक्य स्वागमनकाले स्वकारभूषणवीणा-
वायुमंत्रपणज्यमरिगमपधनिसंज्ञैः शृण्वद्बाह्यवैराग्यबोधकैः भगवद्भक्तित्रेमान्वित-
हृदिक्यालार्पैः नरसृगादिप्रपञ्चज्ञानं संमोहयन्नागतं नारदं शौनकादिमहर्षयस्त-
मवलोक्य प्रत्युत्थानादिमय्या कृत्वा दिव्यासनं तं निवेद्य तद्दर्शनमात्रतो यत्
परमार्थतत्त्वं तत् स्वयं सर्वेऽप्युपदिष्टा अपि लोकानुग्रहेतोः तं पृच्छन्ती-
त्यह—भो भगवन्निति । हे ब्रह्मपुत्र भगवद्भक्तिकानामस्माकं कथं स्वानि-
गित्तास्तित्ताभ्रमो मुक्तिः स्यात् को वा तदप्युपायो वक्तव्य इति ॥ १ ॥

विवेहसुखिभोपावोपवेशः

इत्युक्तस्तान्स होवाच नारदः । सत्कुलभवोपनीतः सम्य-
गुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकशुलभमीपे स्व-
शास्ताभ्यवर्तमानः सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा, द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्म-
चर्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्पत्यम्, पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं

तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य, चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधगार्हस्थ्यं चातुर्विध्य-
वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य, तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य, साधन-
चतुष्टयमपन्नः, सर्वममारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा
वामनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः, मन्यामी परमहंसाश्रमेणा-
स्खलितस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति म मुक्तो भवति म मुक्तो
भवति । इत्युपनिषत् ॥ २ ॥

तैत्तिरीयं प्रष्टुं देवर्षिगृह—इत्युक्तं इति । इत्येवं शौनकादिभिः उक्तः स होवाच
नारदः । किं तत् सत्कुले भवतीति यः कश्चन द्विजातिः सत्कुलभवः विधिव-
दुपनीतः चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः । चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारः कीदृशः इत्यत्र
गौतमधर्मे आम्नायते । तद्यथा—गर्भाधानपुंसवन्सीमन्तोन्नयनजानकर्मनाभकरणान्न-
प्राशनचौलोपनयनानि चत्वारि वेदव्रतानि, स्नानं सहभ्रमचारिणीसंयोगः पञ्चानां
यज्ञानां अनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणामेतेषां पञ्चकम्, पार्वणश्राद्धं श्रावण्याग्रहण्यणी-
चैत्र्याश्वयुजीति सप्तपाकयज्ञसंस्थाः, अन्याधेयमग्निहोत्रदण्डपूर्णमासावाप्यणं चातुर्मा-
स्यानि निरूढपशुबन्धसौत्रामणीति सप्तहविर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः
षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽमोर्याम इति सप्तसोमसंस्था इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः ।
अष्टवात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यम-
स्पृहेति । ययैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टवात्मगुणाः, न स ब्रह्मणः सायुज्यं
सालोक्यं च गच्छति । यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽपि अष्टवात्मगुणाः
अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीत्युक्तसंस्कारसंपन्नो भूत्वा

“आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः”

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेनोक्तलक्षणलक्षितस्वामिमतैकगुरुनिवृत्ते आदौ स्वशास्त्राध्ययन-
पूर्वकं सर्वविद्याभ्यस्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकब्रह्मचर्यव्रतीभूत्वा विद्याभ्यसेदि-
त्यर्थः । ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं गार्हस्थ्योचितधर्मानुष्ठानं कृत्वा अथ

मुक्तां विदेहमुक्तो भवति । आवृत्तिगदार्था । इत्युपनिषच्छब्दः प्रथमोपदेश-
सामान्यर्थः ॥ २ ॥

इति प्रथमोपदेशः

पारिव्राज्यस्वरूपक्रमः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो
भगवन्संन्यासविधिं नो ब्रूहीति । तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं
पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्तयागपूर्यनन्तरं तैः सह
सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा,
यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच । गुरुस्त्वं
जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वम् । अतो मदिष्टं रहस्यमेकं
वक्तव्यम् । त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः । किमिति
चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी
सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्ति-
निवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः ।
पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्ब्रह्मस्यप्रकारनिरतिशयाकारावलम्बिना
किराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते । तत्क्रममतिरहस्यं
बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ।

भो नारद, विधिवदादावनुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसू-
तः पितृमातृविवेधः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्यं श्रद्धावन्तं सत्कु-

लभवं श्रोत्रियं शास्त्रवान्मल्यं गुणवन्तमकुटिलं मद्गुरुमामाद्य नत्वा,
 यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमनं विज्ञाप्य, द्वादशवर्षसेवापुरःसरं
 सर्वविद्याभ्यामं कृत्वा, तदनुज्ञया म्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य,
 पञ्चविंशतिवत्स्रं गुरुकुलवामं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहम्योचितकर्म
 कुर्वन्, दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य म्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमामाद्य
 गार्हस्थ्योचिनपञ्चविंशतिवत्स्रं नीत्वा, ततः पञ्चविंशतिवत्स्रपर्यन्तं
 त्रिषवणमुदकम्पर्शनपूर्वकं चतुर्यकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव
 वनम्यो भूत्वा, पुरग्रामप्राक्तनमंचारं विहाय, निकिरविरहिततदाश्रि-
 तकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य, दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य, चत्वारिंशत्सं-
 स्कारमंपन्नः, सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशामूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा,
 माधनचतुष्टयमंपन्नः मन्यन्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥ १ ॥

एवं नागदेनोपदिष्टाः गौनकादिमुनयः पुनर्विशेषबुभुत्सया नारदं पृच्छन्ति ।
 सोऽपि भवद्विर्येत् पृष्टं तन् पितामहमुखेन ज्ञातव्यमित्युक्त्वा प्रकृत्याग-
 समाप्त्यनन्तरं सैः साकं सत्यलोकं गत्व पितामहं विधिवदुपसंगम्य नारदः
 पाणित्राज्यधर्मं पृष्टवान् इत्याह—अथेति । ब्रह्मनिष्ठापरं स्वातिरिक्तसर्वापहवसिद्धं
 ब्रह्म निग्रन्थिगोपिकस्वमात्रमिति या अनवग्तभावना सैव ब्रह्मनिष्ठा, तत्परं तन्निष्ठं
 नेन परमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठिनम् । नारदः पितामहमुवाच । किमिति । सर्वेषां
 मम च गुरुस्त्वमिति । नारदेनैवं पृष्टः परमेष्ठी दिव्यज्ञानेन तद्गमनप्रयोजनं
 ज्ञात्वा त्वया यत् पृष्टं तन्मे विराट्पुरुषेणोपदिष्टं तदुच्यते शृण्वेतदित्याह—
 नारदेनेति । किं तदित्यत्र भो नारदेति तं स्वाभिमुखीकृत्य क्रमेण संन्यासविधि-
 मुपदिशतीत्याह—भो इति । सत्संप्रदायस्थं इत्याद्याचार्यविशेषणम् । श्रोत्रियं
 अधातसाङ्गोपाङ्गस्वाध्यायतर्कम् । पञ्चविंशतिवत्स्रं सदारो गुरुकुलवासं
 कृत्वा । “त्रिषवणमुदकोपस्पर्शी चतुर्यकालपानमत्तः स्यात्” इति श्रुतेः ।

निकिरविरहितेत्यत्र निरतां किं बीजावापनं यत्र तन्निकिरं, गोघ्नमग्नार्त्ताश्यामाकादि
तद्विरहितं नीवारतृणतण्डुलादितदाश्रितकर्माचितकृत्यं देवपित्राद्युद्देशेन हव्य-
कव्यादिकं दृष्टमैहिकं श्रावणमामुष्मिकं तत्र वैतृष्यमिहामुत्रभोगवितृष्यात्वम् ।
चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्न इत्याद्युक्तार्थम् । शिष्टं स्पष्टम् । इत्युपनिषच्छब्दो
द्वितीयोपदेशसमान्यर्थः ॥ १ ॥

इति द्वितीयोपदेशः

संन्यासाधिकारी

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ । भगवन् केन संन्यासः
संन्यासाधिकारी वेति । एवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चा-
त्संन्यासविधिरुच्यते । अवहितः शृणु । अथ षण्डः पतितोऽङ्ग-
विकलः क्षैणो त्रधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहर-
द्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽस्त्येतं न
संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ।
पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥ १ ॥

परैर्गैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा ।

अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ २ ॥

षण्डोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी ।

पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥ ३ ॥

चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः ।

द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च ।

एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ४ ॥

साधनचतुष्टयसम्पन्नः संन्यस्तुमर्हतीति पितामहं नैवमुपदिष्टो नागदः संन्यास-
स्वरूपं तदधिकारिस्वरूपं च विविच्य ज्ञानव्यमिति स्वपितरं पप्रच्छेत्याह—
अथेति । कोऽयं संन्यासः । को वा संन्यासाधिकारिः, इति प्रश्नोत्तरं एवमिति ।
आदौ तावत् संन्यासानधिकारिणं निरूपयति—अथेति । शिपिविष्टो विकसितशेफ
इत्यर्थः । उक्तार्थवैपरीत्येन यः सर्वभूताभयदः यस्य सर्वाणि भूतान्यभयं दास्यन्ति
सोऽयं संन्यासाधिकारिन्याह—पूर्वेति । केयं स्मृतिः इत्यत्र

“अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निगमिर्न चाक्रियः ॥”

इति स्मृत्यनुगन्धेन साध्यमावनेयणापग्न्यागवृत्तकं निष्कामकर्मानुष्ठाना द्विजः
वृत्तसंन्यासी । सोऽयं परमहंसभ्रमाधिकारिः । तद्विपर्ययाधिकार्यपि श्रूयते मन्त्रद्वयेन
षण्ड इति ॥ १-४ ॥

आनुगमन्यासः

आतुरकालः कथमार्यसंमतः ।

प्राणस्योत्क्रमणामन्नकालस्त्वातुरसंज्ञिकः ।

नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तनः ॥ ५ ॥

आनुगसंन्यासः कथं विद्वत्संमतो भवति इत्याक्षिप्य तत्राष्टश्राद्धादिकर्मलोपेऽपि
संन्याससिद्धिक्वप्यैश्वर्यमन्त्रलोपादातुरसंन्यासोऽपि विद्वत्संमतो भवतीत्याह—आतुर-
काल इति । प्राणस्योत्क्रमणामन्नकालः प्राणोत्क्रमणपूर्वमाविकाल एवेत्यर्थः ॥५॥

आतुरसंन्यासः

आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रारःसरम् ।

मन्त्रवृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विषिवद्बुधः ॥ ६ ॥

आतुरेऽपि क्रमे चापि प्रैषयेदो न कुत्रचित् ।

न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥ ७ ॥

अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत् ।

मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥ ८ ॥

विध्युक्तकर्ममंक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः ।

तस्मादातुरमंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥ ९ ॥

आतुरमंन्यासविधिमाचष्टे—आतुरेऽपि चेति । क्रमातुरयोः प्रेषभेदः स्यात् इत्यत आह—आतुरेऽपीति । कर्मणो मन्त्रार्धानत्वं केवलकर्मणो निष्फलत्वं चाह—न मन्त्रमिति । न मन्त्रं कर्मरहितं इत्यत्र विभक्तिव्यप्ययः । केवलमन्त्र-प्राधान्येन यत्र कर्मलोपः सोऽयं आतुरसंन्यास इत्याह—विध्युक्तेति । यस्मादेवं तस्मान् ॥ ६-९ ॥

देशान्तरस्थाहिताग्नेः संन्यासविधिः

आहिताग्निर्विरक्तश्चेदेशान्तरगतो यदि ।

प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥ १० ॥

मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथवा जले ।

पुत्युत्प्लव्याग्रेण कर्मानुष्ठानमेव वा ।

समाप्य संन्यसेद्विद्वाज्जो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥ ११ ॥

यद्याहिताग्निर्विरक्तो दूरदेशं गतो भवति तस्य संन्यासः कथं इत्याकाङ्क्षायां मन्त्रसा वचसा कर्मणा वाप्सु प्राजापत्येष्टिं कृन्वैव संन्यसेत् नोचेत् पतितो भवतीत्याह—आहिताग्निगिति । देशान्तरगतो यदि तदा ॥ १०, ११ ॥

स्तृष्णस्य संन्यासपरिग्रहे नरकप्राप्तिः

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु ।

तदा संन्यासमिच्छन्ति पतितः स्थाद्विपर्यये ॥ १२ ॥

विग्तः प्रव्रजेद्धीमान्मरक्तमृतु गृहे वसेत् ।

मरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥ १३ ॥

म्वानिग्नवन्तुवैतृष्यं संन्यामहेतुः यत्र कुत्रापि मृतृष्यो यदि संन्यम्यति
न्य नरकपानः स्यादित्याह—यदेति ॥ १२. १३ ॥

वैतृष्यमेव संन्यामपरिग्रहे हेतुः

यस्यैतानि सुगुमानि जिह्वोपस्थोदरं करः ।

संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥ १४ ॥

संमार्गमेव निःभारं दृष्ट्वा मारदिदृक्षया ।

प्रव्रजन्यकृतोद्वाहाः परं वैगम्यमाश्रिताः ॥ १५ ॥

प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यामलक्षणम् ।

तस्मान्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यमेदिह बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

यस्य जिह्वादिकं स्ववशं वर्तते, इतः पगमलमिति यस्य संसागविरक्तिरुदेति
यस्य च ज्ञानं कैवल्यसाधनं भवति सोऽयं वर्ती गृही वनी वा संन्यमेदित्याह—
यस्येति । यस्मादेवं तस्मान् ॥ १४-१६ ॥

विद्वत्संन्यामः

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।

तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतं शिखां त्यजेत् ॥ १७ ॥

परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि ।

सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥ १८ ॥

पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत् ।

तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥ १९ ॥

अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम् ।
 इति भावो ध्रुवो यम्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २० ॥
 यस्मिञ्छान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम् ।
 अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्यश्रमे भवेत् ॥ २१ ॥
 यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
 कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥ २२ ॥
 दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः ।
 वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनुष्ठानं द्विजः ॥ २३ ॥
 धृतिः क्षमा दमोऽस्थेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
 ह्रीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ २४ ॥
 अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि ।
 प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २५ ॥
 अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः ।
 शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २६ ॥
 प्राणे गते यथा देहः ^१सुखदुःखं न विन्दति ।
 तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्यश्रमे वसेत् ॥ २७ ॥

विद्वत्संन्यासमाह—यदेति । यस्य स्वानुरक्तिस्त्वातिरिक्तविरक्तिसमत्त्वादिकं
 नैजं भवति स यतिनामर्हतीत्याह—परमात्मनीत्यादिना । अकिंचनं स्वातिरेकेण
 किंचिदस्तीति यन्मनो न मनुते तदकिंचनम् । किंच यदेति । पुनर्भङ्ग्यन्तरेण
 विद्वत्संन्यास उच्यते—दशेति । अनृणः “ब्रह्मचर्येणार्घ्यभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया

^१ उ १. ‘सुखदुःखं’ इत्यारभ्य ‘विमृज्य ध्यानयोगेन’ (२७-५१) इत्यन्तं
 मूलव्याख्याने न दृश्यते ।

मिदं च अनुग्रहः ॥ इति श्रुतेः । इच्छाक्षणकं धर्ममित्यंशं श्रुतिरेव
अग्रमेवेति — धृतिरिति । अतः इच्छाक्षणकं वच्छिन्नभोगानिच्छुमौक्षाश्रमे वसेदित्याह—
अर्नानानिति । निगृह्यतन्त्रांशं धृतिर्नोक्षाश्रमे वसेदित्याह—अन्नरिति । किं
ब्रूयात् प्राण इति ॥ १७-१८ ॥

अवैधपरिग्रहे प्रत्यवयवः

कौपीनयुगलं कन्या दण्ड एकः परिग्रहः ।
यतः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥ २८ ॥
यदि वा कुरुते गगादधिकस्य परिग्रहम् ।
गैरिव तर्कं गत्वा निर्यगोनिषु जायते ॥ २९ ॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेन्नानि ग्रथितानि तु ।
वृत्त्वा कन्यां बहिर्वामो धारयेद्वातुर्जितम् ॥ ३० ॥
एकवामा अवामा वा एकदष्टिगोलुपः ।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ ३१ ॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढं चरेद्यतिः ॥ ३२ ॥

यनेर्देहभ्राणस्वाचारोपयोगिपरिग्रहं विनान्यत्र नहि परिग्रहविधिरस्ति यदि
करोति तदा प्रत्यवतीत्याह—कौपीनेति । यदि शीतभीतिस्तदा विशीर्णानीति ।
साम्बग दिगम्बग वा यतः श्रवणमनननिदिध्यासनध्यापृतिविरला यदि तदा तेषां
ग्रामिकतात्रमंचागो विधीयत इत्याह—एकेति ॥ २८-३२ ॥

परिव्राजकानां धर्माः

कामः कोपस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्णिर्ममो भवेत् ॥ ३३ ॥

रागद्वेषवियुक्तान्मा ममलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
 प्राणिर्हिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥ ३४ ॥
 दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः ।
 आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयान् ॥ ३५ ॥
 इन्द्रियाणां प्रमङ्गेन दोषमृच्छत्यमंशयः ।
 संनियम्य तु तान्येव ततः मिद्धि निगच्छति ॥ ३६ ॥
 न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
 हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ३७ ॥
 श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च मुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
 न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥
 यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
 स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ ३९ ॥
 संमानाद्वाह्यणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
 अमृतस्यैव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ ४० ॥
 सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
 सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ ४१ ॥
 अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन ।
 न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४२ ॥
 क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
 सप्तद्वारावकीर्णो च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४३ ॥
 अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः ।
 आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।

अहिंसया च भूतानाममृतन्वाय कल्पने ॥ ४३ ॥

अम्यिम्यूणं स्नायुवद्धं मांसशोणितलेपितम् ।

चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ४६ ॥

जगशाक्रममाविष्टं गेगायननमानुरम् ।

रजम्वलमनित्यं च भूतावाममिमं त्यजेत् ॥ ४७ ॥

मांमानृक्पृथक्पृथक्मूत्रस्नायुमज्जाम्यिमंहनौ ।

देहे चेन्म्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ ४८ ॥

मा कालमूत्रपदवी मा महावीचिवागुरा ।

मामिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥ ४९ ॥

मा त्याज्या सर्वयन्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते ।

स्पृष्टव्या मा न भव्येन सश्वमांसेव पुलकसी ॥ ५० ॥

प्रियेषु म्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।

विमृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति मनातनम् ॥ ५१ ॥

अनेन विधिना सर्वोस्त्यक्त्वा सङ्काञ्छनैः शनैः ।

सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ५२ ॥

एक एव चरन्तित्यं सिद्धचर्यमसहायकः ।

मिद्विमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३ ॥

पण्डितराजकर्मालुपन्यस्यति — काम इत्यादिना । निर्ममो भवेत् स्वदेहत-
दन्यत्र नाहंममाभिमानो भवेदित्यर्थः । मुनिः मन्तशीलः । इन्द्रियैरिन्द्रियार्थ-
स्पर्शास्पर्शाभ्यां बन्धमोक्षौ भवत इत्याह—इन्द्रियाणामिति । कामोपभोगतः

कामशान्तिः स्यादित्यत आह—नेति । एवं चेन् जितेन्द्रियत्वं कथं इत्यत आह—श्रुत्वेति । यद्वशं करणजनं भवति स ज्ञानफलमेतान्याह—यस्येति । सम्यग्गुप्ते तनुभावं गते । यतिः संमानमनादित्यावमानमेव कांक्षेदित्याह—संमानादिति । किंच अतिवादान परकृताधिक्षेपान् तितिक्षेन नावमन्येन कंचन स्वात्मधिया । “सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः” इति समद्वारावकीर्णं च न वाचमनृतां वदेन् । समद्वारभूतां सदा अध्यात्मगतिः । किं च इन्द्रियाणामिति । स्वाधिष्ठितदेहमहं धियं स्वानर्थकर्ममुत्सृज्य ब्रह्मात्मनि बुद्धिं कुर्यादित्याह—अस्थीति । शुक्लशोणितयोगजं रजस्वलम् । भूतात्वामाभिमतौ दोषं विज्ञिनष्टि—मांसंति । देहगताहंयतिमहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मण्येव कुर्यादित्यर्थः । एवं ब्रह्मानुसन्धानपरस्यापि आरोग्योगप्रभवमुत्पन्नदृष्टकृतयोगवश्यंभावित्वात्ततो ब्रह्मभावापत्तिः कुत इत्यत आह—प्रियेष्विति । ब्रह्मासिप्रतिबन्धकमुत्पन्नदृष्टकृतयोः प्रियाप्रियजनापहृतत्वादयं निःप्रतियोगिकं ब्रह्म स्वमात्रधियेर्नात्यर्थः । प्रियाप्रियेष्वपि अनेनेति ॥ ३३-९३ ॥

यतिर्कुर्या, तत्फलं च

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यमहायता ।

समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ १४ ॥

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।

एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥ १५ ॥

एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।

त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ १६ ॥

नगरं न हि कर्तव्यं ग्रामं वा मिथुनं तथा ।

एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माध्यवृत्ते यतिः ॥ १७ ॥

राजवार्त्तादि तेषां स्याद्विज्ञावार्त्ता परस्परम् ।

स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षाच्च संशयः ॥ १८ ॥

एकाकी निःस्पृहस्निष्ठेन हि केन महालयेत् ।
 दद्यान्नागयणेन्येव प्रतिवाक्यं मदा यतिः ॥ ५९ ॥
 एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।
 मृत्युं च नाभिनन्देत् जीविनं वा कथंचन ॥ ६० ॥
 कालमेव प्रतीक्षेत् यावदायुः समाप्यते ।
 नाभिनन्देत् मरणं नाभिनन्देत् जीवितम् ॥
 कालमेकं प्रतीक्षेत् निर्देशं भृतको यथा ॥ ६१ ॥
 अजिह्वः पण्डकः पङ्गुगन्धो वधिर एव च ।
 मृगश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरैतैर्न मंशयः ॥ ६२ ॥

पुनर्यतिचर्या तत्फलं चात्रोच्यते—कपालमित्यादिना । येन वाक्कायमनांसि
 दण्डयन्ते मौनस्त्राल्पाशनप्राणायामोपायत इति स त्रिदण्डी महायतिः ।

“ वायदण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
 यस्यैते न्ययना दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ”

इति श्रुतेः । एकब्रह्मावशेषेण सर्वत्र रमत इति एकारामः । कथं तत्
 राजवार्तादिति । यस्मादेवं तस्मान् एकाकीति । एकाकिना किं कर्तव्यं इत्यत
 आह—एकाकी चिन्तयेदिति । अजिह्वादिवृत्तिमान् यतिः स्वातिरिक्तभ्रमो
 विमुच्यत इत्याह—अजिह्व इति ॥ ५४-६२ ॥

अजिह्वादीनां लक्षणम्

इदं मृष्टमिदं नेति योऽन्नन्नपि न सज्जति ।
 हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥ ६३ ॥
 अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
 शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्डकः ॥ ६४ ॥

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च ।

योजनाच्च परं याति सर्वथा पङ्गुरेव मः ॥ ६३ ॥

निष्ठनो ब्रजनो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम् ।

चतुर्भुगां भुवं मुक्त्वा परित्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥ ६६ ॥

हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत् ।

श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः ॥ ६७ ॥

सांनिध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः ।

सुखद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥ ६८ ॥

सूत्रभूतं वाक्यं श्रुतिरेव क्रमेण व्याचष्टे । तत्रात्रिदशब्दार्थमाह—
इदमिति । पण्डकशब्दार्थमाह—अद्येति । पङ्गुशब्दार्थमाह—भिक्षार्थमिति ।
अन्धशब्दार्थमाह—तिष्ठत इति । बधिरशब्दं व्याचष्टे—हिनेति । मुग्धशब्दार्थं
विशदयति—सान्निध्य इति ॥ ६३-६८ ॥

यतीनां वर्जनीयानि

नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा ।

भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्ण षड्येत्कदाचन ॥ ६९ ॥

रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु ।

षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ७० ॥

मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथा लौल्यमेव च ।

दिवास्वापं च यानं च यतीनां पातकानि षट् ॥ ७१ ॥

दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः ।

यतिभिः यद्यत् न्याज्यं तदेकदेशं प्रदर्शयति—नटादीत्यादिना ॥ ६९-७१ ॥

यनिभिः अनुश्रेयानि

मदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिर्हेतुकीम् ॥ ७२ ॥

न र्थार्थमेवी नित्यं म्यान्नोपवामपरो यनिः ।

न चाध्ययनशीलः म्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥ ७३ ॥

अपापमशतं वृत्तमजिह्वं नित्यमाचरेत् ।

इन्द्रियाणि ममाहृत्य क्रूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥ ७४ ॥

क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निगशीर्निष्पग्रिग्रहः ।

निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥ ७५ ॥

निर्ममो निरहंकारो निगपेक्षो निगशिषः ।

विविक्तदेशममक्तो मुच्यते नात्र संशय इति ॥ ७६ ॥

यदनुश्रेयं तदाह—सदेति । अपापं पापपुण्यतत्फलविमुखम् । अशतं
साधुजनसेव्यब्रह्मगोचरम् । अजिह्वं मौनमित्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपरि-
मसान्वयः ॥ ७२-७६ ॥

आश्रमास्तुमारेण पारिव्राज्यम्

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी
गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही
भवेद्गृहाद्धनी मूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेद्गृहाद्धा
वनाद्धा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको
वोन्मत्ताग्निरभिको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । तद्वैके
प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव

कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति । नम्मान् त्रैधान-
वीयामेव कुर्यात् । एत एव त्रयो धातवो यदुन मत्त्वं रजस्तम
इति ॥ ७७ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अगेचथाः ।

तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ ७८ ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः, प्राणं
गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । आहवनीयादग्निमाहृत्य
पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै मर्वा
देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तद्वदकं
प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयं मोक्षदमिति । शिखां यज्ञोपवीतं
पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्या-
त्मविन् । मोक्षमन्त्रैस्त्वैधातवीयैर्विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् ।
एवमेवैतदिति ॥ ७९ ॥

यथाक्तलक्षितवृत्त्यादेर्यदहरेव वान्ताशनमूत्रपुरीषादिवत् स्वातिगितप्रपञ्च-
वितिरुदेति तदा तदहरेव प्रव्रजेत् यदि विगतिर्मन्दा तदाश्रमक्रमानुसारेण
परिव्रजेदित्याह—अप्रमत्त इति । यदि स्वात्ताश्रमपरिव्रहे मन्दविवृत्या तत्र
मुख्यवृत्तिका चेन् ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । यदि वा इतरथा
तीव्रतरवितिरुदेति तदा ब्रह्मचर्यादिव प्रव्रजेन् । विरजेन् तीव्रतरविवर्गा
स्यात् । यस्मादेवं तस्मात् । “ब्रह्मचर्यं समाप्य” इत्यागम्य “तद्ब्रह्म
तदुपासितव्यम्” इत्यन्तं जाबालोपनिषदि चतुर्थखण्डे जनक्याज्ञावल्क्यसंवादे
प्रायशः प्रतिपदं व्याख्यातम् ॥ ७७-७९ ॥

यतेष्व सुख्यं ब्राह्मण्यम्

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः । कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण
इति । नमाह पितामहः ॥ ८० ॥

मशिवं वपनं कृत्वा बहिःमूत्रं त्यजेद्बुधः ।

यदभ्रं परं ब्रह्म तन्मूत्रमिति धारयेत् ॥ ८१ ॥

मूचनान्मूत्रमित्याहुः मूत्रं नाम परं पदम् ।

तन्मूत्रं विदिनं येन स विप्रो वेदपासगः ॥ ८२ ॥

येन सर्वमिदं प्रोतं मूत्रे मणिगणा इव ।

तन्मूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥ ८३ ॥

बहिःमूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममाम्बितः ।

ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिद्यो नाशुचिर्भवेत् ॥ ८४ ॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ८५ ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।

ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ८६ ॥

अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।

स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ ८७ ॥

कल्पयन्निष्ठा ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।

तेभिर्वार्यमिदं सूत्रं क्रियाहं तद्धि वै स्मृतम् ॥ ८८ ॥

शिखा ज्ञानमयी यम्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति ॥ ८९ ॥

संन्यासस्य शिखायज्ञोपवीतन्यागपूर्वकत्वात् कथमयं ब्राह्मणपदमर्हतीति
नागदः पितामहं पृच्छतीत्याह श्रुतिः—पितामहमिति । तमाह पितामहः ।
किमिति—सशिखमिति । “सशिखम्” इत्यादि “ब्रह्मविदो विदुः” इत्यन्तं
ब्रह्मोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ ८०-८९ ॥

परमहंसस्य अवधूताश्रमस्य वा परिग्रहः

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राट्कशाटी मुण्डोऽपरि-
ग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेत् । अथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपपरो
भूत्वा स्वपुत्रमित्रकलत्रासवन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सत्कर्माणि संन्य-
स्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा
द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न
नावमाने च षडूर्मिवर्जितः, निन्दाकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छा-
द्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य, स्ववपुः शवाकारमिव
स्मृत्वा, स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरमन्यमानः, कस्यापि वन्दनमकृत्वा
न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् ।
यदृच्छालाभसंतुष्टः सुवर्णादीन् परिग्रहेत् । नावाहनं न विसर्जनं न
मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ्
नापृथङ् नत्वन्यत्र अनिकेतः स्थिरमतिः इत्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृण-
कुलालशालाभिहोत्रशालाभिदिगन्तरनदीतटपुलिनः गृहकन्दरनिर्भर-

म्यण्डिलेषु. वने वा, श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वाभिः संवर्तकदत्तात्रेय-
 रैवतकवद्व्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्त-
 वदाचरन्निदण्डं शिख्यं पात्रं कमण्डलुं कटिमूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं
 भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥ ९० ॥

कटिमूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम् ।

सर्वमप्सु विमृज्याथ जानरूपघरश्चरेत् ॥ ९१ ॥

आन्मानमन्विच्छेत् । यथाजानरूपघरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह-
 मन्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणमंवारणार्थं यथोक्तकाले
 कर्पात्राणान्येन वायाचिताहारमाहरन्, छाभालाभौ समौ भूत्वा
 निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यान्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः
 मन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधमन्तब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्त्रमर-
 कीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति । स
 कृतकृत्यो भवति इत्युपनिषत् ॥ ९२ ॥

यत्नेनैव मुख्यं ब्राह्मण्यं विदित्वा परिव्रज्य पारमहंस्यमवधूताश्रमं वा
 गच्छेदित्यह—तदेतदिति । यदि शीताद्यसहिष्णुस्तदा परिव्राट् । श्रवणादिसन्-
 कर्माणि । शीतोष्णादिद्वन्द्वसहिष्णुः । अशनायादिः षड्भूमिः । स्वयमेवानन्तरम-
 वाह्यं ब्रह्मेति भावनया स्वव्यतिरिक्तमन्तर्बहिरिमन्यमानः कस्यापि वन्दनम-
 कृत्वा सेव्यसेवकहेतुदेहाभिमर्तिर्भव्यात् बाहृच्छिन्नो भवेत् स्वातन्त्र्येणैकाकी
 संचरेदित्यर्थः । बहृच्छिन्नमसन्तुष्टः स्वप्रयोजनाभावात् । न मन्त्रं नामन्त्रं
 प्रथमार्थे द्वितीया । स्वातिरेकेणावह्नविसर्जनमन्त्रामन्त्रध्यानोपासनलक्षणीया-
 लक्षणीयलक्ष्यालक्ष्यभेदाभेदकलनावैरव्यात्, अत एव अनिकेतः स्थिरमतिः ।
 अवधूतस्य न श्रवणादिकर्तव्याभावादनिकेतस्थिरमतिक्रमं युज्यत इत्यर्थः ।

तेषां निवासस्थलमाह—शून्येति । प्रशस्तावधृतपुगनाम निर्दिशति—श्वेत-
केति । यः कोऽप्यव्यक्तलिङ्गः अस्वलितस्वस्वन्पानुसंधानेन कान्ठं
नयेदित्यर्थः । यदि कुटीचकादिः अवधृतचर्यानिच्छति तदा त्रिदण्डमिति ।
यदि परमहंसस्तदा कटिसूत्रं चेति । ततः किं इत्यत्र—

“आत्ममात्रमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ।”

इति श्रुत्यनुगोधेन आत्मानमन्विच्छेत् । तत्त्वब्रह्ममार्गे तत्प्रापकज्ञान-
वर्त्मनि । करपात्रेणान्येन वा आम्याहारेणेत्यर्थः । अयाचिनाहारमाहर्न्
तत्रापि लाभालाभौ समौ भूत्वा निर्ममः । “शुक्लेजोमयं ब्रह्म” इति
श्रुत्यनुगोधेन शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः स्वातिगित्प्रपञ्चनिवृत्तिप्रवृत्ति-
रूपशुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः यत् स्वातिगित्, तत् संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधः
यज्ञाप्रज्ञाप्रदादिचतुष्पञ्चदशकलनापह्वमिदं तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्म-
रन् भ्रमरक्रीटन्यायेन शरीरत्रयतनिरूपितात्मान्मीयाभिमनिमुत्सृज्य यः
स्वातिगित्तामित्वभ्रमसंन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृत्कृत्यो विदेहमुक्तो
भवति इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः तृतीयोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ ९.०—९.२ ॥

इति तृतीयोपदेशः

यतिधर्माणां तत्फलस्य चोपन्यासः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयाणीन्द्रियाणि च ।

आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥ १ ॥

नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् ।

क्यो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव मद्यतिः ॥ २ ॥

न संभाषेन्त्रियं कांचिन्पूर्वदृष्टं च न स्मरेत् ।
 कथां च वर्जयेत्तामां न पश्येद्विनितामपि ॥ ३ ॥
 एतच्चतुष्टयं मोहान्त्राणामाचरतो यतः ।
 चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥ ४ ॥
 नृप्या क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये ।
 शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागः पद्मिहः ॥ ५ ॥
 अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्ममाहसम् ।
 प्रायश्चित्तं प्रवामश्च मन्त्रौषधगराशिषः ।
 प्रतिषिद्धानि चैतानि मेवमानो ब्रजेदधः ॥ ६ ॥
 आगच्छ गच्छ निष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
 संमाननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥ ७ ॥
 प्रतिग्रहं न गृहीयाच्चैव चान्यं प्रदापयेत् ।
 प्रेरयेद्वा तथा मिश्रुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥ ८ ॥
 जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।
 श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकमोहौ त्यजेद्यतिः ॥ ९ ॥
 अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिश्रितः ।
 अनादृत्यमर्दद्रोहं प्रसादः स्वैर्यमार्जवः ॥ १० ॥
 अघ्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
 उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥ ११ ॥
 हीनत्वा ज्ञानविज्ञाने योगो लब्धशनं घृतिः ।
 एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नेषतात्मना ॥ १२ ॥

निर्द्वन्द्वो नित्यमन्वयः सर्वत्र ममदर्शनः ।
 तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥ १३ ॥
 एकरात्रं वसेद्भामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
 मर्वाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मामांश्च चतुरो वसेत् ॥ १४ ॥
 द्विरात्रं न वसेद्भामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
 रागादयः प्रसज्येरंस्तेनामौ नारकी भवेत् ॥ १५ ॥
 ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्मानिकेतनः ।
 पर्यटत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥ १६ ॥
 एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः ।
 अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥ १७ ॥
 शुचौ देशे मदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन् ।
 पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥ १८ ॥
 न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोनैव पर्यटन् ।
 न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च ॥ १९ ॥
 एकरात्रं वसेद्भामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
 पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।
 वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते २० ॥
 आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम् ।
 अन्धवज्जडवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥ २१ ॥
 स्नानं त्रिषणं प्रोक्तं बहूदकवनस्पयोः ।
 हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२ ॥

मौनं योगामनं योगमिति शैकान्तशीलता ।
 निःस्पृहत्वं ममत्वं च मर्षैतान्येकदण्डिनाम् ॥ २३ ॥
 पद्महंसाश्रमस्थो हि स्वानादेरविधानतः ।
 अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥ २४ ॥
 त्वङ्मांसमरुधिरस्त्रायुमज्जामेदोऽस्थिमहत्तौ ।
 विण्मूत्रपूयं गमनां क्रिमीणां कियदन्तर्गम ॥ २५ ॥
 क शरीरमशेषाणां स्लेष्मादीनां महाचयः ।
 क चाङ्गशोभामौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६ ॥
 मांमामृक्पूयविण्मूत्रस्त्रायुमज्जास्थिमहत्तौ ।
 देहे चेन्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि मः ॥ २७ ॥
 स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च ।
 अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८ ॥
 चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्धारधूपितम् ।
 ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहस्यं किमतः परम् ॥ २९ ॥
 न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः ।
 निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥ ३० ॥
 मृनिः कौपीनवासाः स्यात्क्षत्रो वा ध्यानतत्परः ।
 एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१ ॥
 लिङ्गे सत्यपि सत्त्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम् ।
 निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गप्राप्तो निरर्थकः ॥ ३२ ॥

यं न मन्तं न चामन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
 न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चिन्म ब्राह्मणः ॥ ३३ ॥
 तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मव्रतमनुव्रतम् ।
 गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञानचरितं चेन् ॥ ३४ ॥
 संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः ।
 अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥ ३५ ॥
 तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः ।
 लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशामनम् ॥ इति ॥ ३६ ॥

ब्रह्मातिरिक्तास्तिताहेतुधर्मपूगत्यागपूर्वकं ब्रह्ममात्रमिद्विनाहेतुयनिधर्मान् तत्फलं
 चापन्यस्यति—“त्यक्त्वा” इत्यादिना “इति ब्रह्मानुशामनम्” इत्यन्तेन ।
 कदाचित् केनचिदपि स्वस्य नामगोत्रादिवरणम् । स्वपतनहेतुगगनः
 स्त्रीसंभाषणस्मरणतत्कथालापचित्रस्थवन्तिदर्शनादिकं यतिना त्याज्यमित्याह—
 नेति । किं च इदं मे स्यात् इदं मा भूत् इति तृष्णा । माया पर्वञ्चना ।
 अनात्मशास्त्रव्याख्यानयोगश्च । आगमाल्यादिकर्तव्यधिया याचनवृत्तिः । गर-
 शब्देन विषमुच्यते । यं कंचन स्वनिष्ठमागतं आगच्छेति । कदापि प्रतिग्रहं
 न गृह्णीयात् । यदि कदाचित् जायादीनां शुभाशुभं श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत ।
 तद्विषयकशोकमोहौ त्यजेद्यतिः । यतः स्वधर्ममाह—अहिंसेति । क्षान्तिः
 सहनम् । यदृच्छ्या लघ्वशनम् । एवं धर्मपूगसंस्कृतो योगी नागयणो
 भवतीत्याह—निर्द्वन्द्व इति । यदि श्रवणध्यानादिव्यापृत्युपगतस्तदा एकरात्रमिति ।
 ग्रामैकगत्रस्थितावपि ग्रामान्त इति । परमहंसोऽवधूतो वा यथेच्छाचरणतः
 सन्मार्गदूषणं न कुर्यात् इत्याह—एकवासा इति । अलोलुपः सर्वत्र लौल्य-
 वर्जितः । प्राण्यहिंसार्थं वीक्ष्यन्निति । संचागप्रतिषेधकालदेशावह—नेति ।
 शून्ये निर्मानुष्ये । ग्रामादौ वासकालमाह—एकरात्रमिति । चातुर्मास्यमन्तं
 आत्मवदिति । यथा अन्धादिः रूपदिभेदं न पश्यति तथेत्यर्थः । वन्यादीनां

स्नानान्त्यमसङ्ग—स्नानमिति । परमहंसमेव न यद्वर्गः कः इत्यत्र—मौनमित्यादि ।
 त्रामादिक्रमशब्दाद्युक्तिरहितमेव मौनम् । योगानुकूलप्रशामनं मिद्वान्तं वा
 योगामनमुच्यते । प्रत्यगन्तिब्रह्मनुसंधानं योगः । परमहंसस्य मनोमलक्षालनमेव
 स्नानमित्यत्र—परमहंसेति । “स्नानं मनोमलव्यागः” इति श्रुतेः । देहगतेः
 कृमिनाम्यमसङ्ग—त्वगिति । देहदेहयदियं प्रकटयति—केति । ग्राम्यविषयं
 कुत्सयति—स्त्रीणामिति । लिङ्गव्यपेक्षया ज्ञानस्य प्राधान्यं विदुषः कृतकृत्यानां
 चात्र—न तस्येति । ब्रह्ममात्रदृष्टेः ब्राह्मणादिवर्णाश्रमभेदानुपलम्भात् अभि-
 शम्भयन्ति तत्र जन्तुर्वक्त्रं “सर्ववर्णेषु भिक्षाचरणं कुर्यात्” इति च श्रुतेः ।
 अलिङ्गस्य ब्राह्मणत्वमात्रदृष्टे—यमिति । कश्चिद्वैकः यं मुनिं सत्त्वेनात्मत्वेन
 विद्वत्त्वेनाविद्वत्त्वेन सुवृत्तत्वेन दूषितत्वेन वा न वेद । एवं वेदनलिङ्गदर्शनात् स
 ब्राह्मणः । यदा यः कश्चित् योगी यमात्मानं देहत्रयात्मना सन्तं प्रत्यभूषण
 न चास्मन्तं स्वाज्ञादिदृष्ट्या कदापि नाश्रुतं न बहुश्रुतं वृत्तप्रकटनहेत्वन्तः-
 कर्णाभावात् सुवृत्तं न दुर्वृत्तं तस्मयापह्नवमिद्वान्प्रतियोगिकत्वमात्रधिया वेद स
 मुनिः वेदनममकालं ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वगृष्टो ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः—

“य एवं निर्वाजं वेद निर्वाजं एव स भवति ।” इति,

“दर्शनादर्शने हित्वा मयं केवलरूपतः ।

य आस्ते कपिगार्दूलं ब्रह्म न ब्रह्मवित् स्वयम् ॥” इति च ॥

यस्मान् अलिङ्गस्यावधूतस्यातिरिक्तप्रपञ्चदृष्टेः ब्राह्मणत्वमभिहितं तस्मान् ॥ तं
 दृष्ट्वा स्वातिरिक्तकलनाशान्तमनसं तथा कदा भविष्याम इति स्पृहयन्ति
 द्विवैकसः । स्वातिरिक्तास्तित्वलिङ्गं यदा न प्रतिभाति तदैव केवल्यमिति ब्रह्मा
 नामदमनुशास्तीत्यर्थः ॥ १-३६ ॥

कमलस्यामविधिनिष्पण्णम्

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ ।

पितामहस्तथैतन्नीकृत्वाऽरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं

कृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यान् देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रा-
 त्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यान् । प्रथमं मत्स्यवसुमंज्जकान्विश्वान्देवान्, देवश्राद्धे
 ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्, ऋषिश्राद्धे देवर्षिसत्रियर्षिमनुष्यर्षीन्, दिव्य-
 श्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्, मनुष्यश्राद्धे मनकमनन्दनमनन्कुमार-
 मनत्सुजानान्, भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुगदिकर्णानि
 चतुर्विधभूतग्रामान्, पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्, मातुः
 श्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीः, आत्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान्,
 जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति । सर्वत्र
 युग्मकलुप्त्या ब्राह्मणानर्चयेत् । एकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्व-
 शाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्त-
 विधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य, पिण्डप्र-
 दानानि निर्वर्त्य, दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा,
 शेषकर्ममिद्वचर्थं सप्तकेशान्विमृज्य शेषकर्ममिद्वचर्थं केशान्मसाष्ट
 वा द्विजः संक्षिप्य वापयेत्केशमश्रुनखानि चेति सप्तकेशान्मरक्ष्य
 कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा, सायंसंख्यावन्दनं निर्वर्त्य, महस्त्र-
 गायत्रीं जप्त्वा, ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य, स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य, स्व-
 शास्त्रोपसंहरणं कृत्वा, तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमान्यमागान्तं हुत्वा-
 हुतिविधिं समाप्य, आत्मादिमिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वा, आच-
 मनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य, स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा,
 पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा, चतुर्थयामान्ते स्नात्वा, तद्गौ
 चरुं श्रपयित्वा, पुरुषमूक्तेनाजं षोडशाहुतीर्हुत्वा, विरजाहोमं

कृत्वा, अथाचम्य. मदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णं पात्रं धेतुं दत्त्वा, समाप्य,
ब्रह्मोद्गमनं कृत्वा,

“मं मा मिञ्चन्तु मरुतः ममिन्द्रः सं बृहस्पतिः ।

मं मायमग्निः मिञ्चन्तायुषा च धनं च बलेन चायुष्मन्तं
करोतु मा ॥” इति ॥

“या ते अग्ने यज्ञिया तनुमन्त्येद्वारोहात्मात्मानम् ।

अञ्छा धमूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरुणि ॥

यज्ञो भूत्वा यजमामीदं म्वां योनिम् ।

जानवेदो मुव आजायमानः मक्षय एहि ॥”

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य, ध्यान्वाग्निं, प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्गा-
म्य, प्रातः मंथ्यामुपास्य, महन्त्रगायत्रीपूर्वकं मूर्योपस्थानं कृत्वा,
नाभिदध्नादकमुपविश्य, अष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्गमनं कृत्वा,
मावित्रीं व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा,

“अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरिरिव । ऊर्ध्वपवित्रो
वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणं सवर्चसम् । सुमेधा अमृतोऽक्षितः ।
इति त्रिशङ्कोर्वेदालुवचनम् ॥”

“यश्छन्दसासृषमो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संभूतः ।
स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो मूयासम् ॥”

“शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां
मूरि विश्रवम् । ब्रह्मणः कोशोऽस्मि मेधयापिहितः । श्रुतं मे
गोषवम् ॥”

“दारेषणायाश्च धनेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्पिनोऽहम्”
 “ओं भूः संन्यस्तं मया” “ओं भुवः संन्यस्तं मया” “ओं
 सुवः संन्यस्तं मया” “ओं भूर्भुवःसुवः संन्यस्तं मया” इति
 मन्द्रमध्यतारध्वनिभिर्मनमा वाचोच्चार्य, “अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः
 सर्वं प्रवर्तते स्वाहा” इत्यनेन जलं प्राश्य, प्राच्यां दिशि पूर्णाञ्जलिं
 प्रक्षिप्य “ओं स्वाहा” इति शिखामुत्पाद्य,

“यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यन्सहजं पुरस्तात् ।

आयुष्यमग्न्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥”

“यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम् ।

परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ ॥”

इति यज्ञोपवीतं छित्वा, उदकाञ्जलिना सह “ओं भूः समुद्रं
 गच्छ स्वाहा” इत्यप्सु जुहुयात् । “ओं भूः संन्यस्तं मया”
 “ओं भुवः संन्यस्तं मया” “ओं सुवः संन्यस्तं मया” इति
 त्रिरुक्त्वा, त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य, “ओं भूः
 स्वाहा” इत्यप्सु वल्लं कटिसूत्रमपि विमुञ्च्य, सर्वकर्मनिर्वर्तकोऽह-
 मिति स्मृत्वा, जातरूपधरो भूत्वा, स्वरूपानुसंधानपूर्वकमूर्ध्वबाहु-
 रूदीर्चीं गच्छेत् ॥ ३७ ॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेत् । गुरोः प्रणवमहावाक्योपदेशं
 प्राप्य, यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति,
 फलपत्रोदकाहारः, पर्वतवनदेवनालयेषु संचरेत् । संन्यस्याथ

दिगम्बरः सकलमन्त्राङ्कं सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मानि-
दुग्न्तामः प्राणधारणपरायणः फलरसमन्त्रकपत्त्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी
गिरिकन्देष्टु विमृजेद्देहं म्मगंन्ताङ्कम् ॥ ३८ ॥

विविदिषामन्त्यामी चेच्छनपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैः 'निष्ठ
निष्ठ महाभाग, दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण, प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं
गुरुनिकटमागच्छेत्' इत्याचार्यैर्दण्डकटिमूत्रकौपीनं शाटीमेकां
कमण्डलुम्, पादादिमन्त्रकप्रमाणमन्त्रणं ममं मौम्यमकाकपृष्ठं मन्त्रक्षणं
वैणवदण्डमेकमाचमनपूर्वकम्

"सखा मा गोपायौजः सखा योऽमीन्द्रम्य वज्रोऽमि वार्जघ्नः
शर्म मे भव यत्पापं तन्निवाग्य ॥"

इति दण्डं परिग्रहेत् । 'जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा
मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वमौम्य' इति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य,
'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' इति 'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्'
इति 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्', इति कटिमूत्र-
कौपीनवस्त्रम्, आचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा, कृतार्थोऽह-
मिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेत् । इत्युपनिषत् ॥ ३९ ॥

ब्रह्मणोऽवन्मुशामिनो नागदः क्रममन्त्यासविध्विमुत्सया पिताम्हं पृच्छन्ती-
त्याह—अथेति । पितामहस्तु नागदप्रश्नमर्ङ्गाकृत्य प्रतिक्रियामाह—तथेति ।
प्राजापत्यादिकृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्यात् ॥ अष्टश्राद्धानि कानि
इत्यत्र—देवर्षीति । देवादिश्राद्धे विश्वेदेवादिवरणकस्माह—प्रथममिति । सायं-
सन्ध्यौऽष्टौश्राद्धमिति ॥ कश्चाप्यमन्त्रद्वयेन प्रकृताग्निमात्ममागेपणं

त्यादित्याह—सं मा सिञ्चन्त्वित्यादिना । अहं वृक्षस्येत्यादिमन्त्रद्वयं पठित्वा
 पोद्धारणं कुर्यादित्याह—अहमिति । अहं वृक्षस्येति मन्त्रद्वयं पठित्वा अथ
 श्लेषणायाश्चेति । यदि पूर्ववत् विद्वत्संन्यासी चेत् तदा गुरोरिति ।
 ब्रह्मेव परमात्मा मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्तः । ततः किम्—इत्यत्र
 त्वत्वं विद्वत्संन्यासी स्वातिग्नित्प्रपञ्चवामनां संन्यस्याथ दिग्गम्बरः सकल-
 श्रेयसंसारकं तद्भ्रममुत्सृज्य सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः विश्रान्त-
 णानन्दान्मस्वान्तः कर्मानिदूरलाभः सर्वकर्मस्यागलब्धहर्षः केवलप्राणधारण-
 रायणः । ततो विमुक्तो भवतीत्यत्र—

“ ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहृन्मामनुस्मन् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमं गतिम् ॥ ”

इति स्मृतेः । यद्ययं विविदिषासंन्यासीति । सखा मा गोपाय—इति
 मन्त्रेण दण्डं परिग्रहेन् । कटिसूत्रकौपीनवस्त्रं आचमनपूर्वकं स्वीकृत्य
 गुरुनिकटं गत्वा तन्मुखान् प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य स्वाश्रमाचिताचारं
 कुर्वन् संशयादिपञ्चदोषनिवृत्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणादि कृत्वा यदि कृतार्थस्तदा
 श्रेयपट्टाभिषिक्तो भूत्वा । चतुर्थोपदेशसमान्तर्योऽयमित्युपनिषच्छब्दः ॥३७—३८॥

इति चतुर्थोपदेशः

कर्ममन्थामस्वाश्रमाकरणयोगिकोपः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ । भगवन् सर्वकर्मनिवर्तकः
 संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते ।
 ततः पितामह उवाच । शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिर्यु-
 क्त्याः सन्ति । तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्त-
 दनुकूलाचाराः सन्ति । तथैव चेद्भगवन् संन्यासाः कतिमेदास्त-

दनुष्ठानभेदाः कौटुशास्मत्त्वोऽस्माकं वक्तुमर्हमिति । नथेत्यङ्गीकृत्य
तं पिनामहेन ॥ १ ॥

करेयगकमन्त्रगणयोः विंशं मन्यमानो नारदः पृच्छतीत्याह—अथेति ।
पिनामह नारदः पप्रच्छ । किमिति—भगवन्निति । नारदेनैवं पृष्ठः सन्
प्रश्नोत्तरं भगवानाह—नन इति । ननः पिनामह उवाच । किमित्यत्र—
शरीरम्येति । देहत्रयावच्छिन्नजावस्य जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयवत्त्वेन कर्मभक्ति-
वैराग्यज्ञानमभवान् । एवमवस्थाचतुष्टयावच्छिन्नप्राणिनः तदनुकृष्टाचारं भवन्तीति
स्वाश्रमाचारगणं संवेदित्युक्तम् । स्वाश्रमाचारमपत्तिस्तु ब्रह्मगृहिवन्निमेव्य-
श्रौतस्मान्तर्कर्मनामान्यमन्यामपूर्वकं प्राणधारणोपयोगिपरिग्रहश्रवणादिसाधनमपत्ति-
गिन्यथैः । एकस्यैव सर्वकर्मसंन्यामपूर्वकं स्वाश्रमाचारगणन्त्वमुपपद्यते । नारदेन
यत् पृष्ठं नन् नथेत्यङ्गीकृत्य तं प्रति पिनामहेनैवमुक्तम् ॥ १ ॥

संन्यामचातुर्विध्यम्

संन्यामभेदेराचारभेदः कथमिति चेत्—तत्त्वतस्तत्त्वेक एव
संन्यामः, अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपनश्च त्रैविध्यमेत्य, वैराग्य-
संन्यामो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यामश्चेति चातु-
र्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥

किमिति—संन्यासभेदैः आचारभेदः कथमिति चेत् इत्येवं मन्यसे
यदि तदा शृण्वेत् । स केन भिद्यत इत्यत्र—अज्ञानेनेति । त्रैविध्यमेत्य
वर्तते । विद्वद्विविदिषातुरभेदात् स पुनश्चातुर्विध्यमुपागत इत्याह—वैराग्येति ॥ २ ॥

वैराग्यसंन्यामः

तद्यथेति । दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्यमेत्य प्राक्पृण्य-
कर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥

तथैव प्रतिपाद्यते सर्वानर्थहेतुदुष्टमदनाभावाच्चेति । चञ्चलमन्तर्गतान्य-
भावां द्योयते । विषयमामान्यवैतृण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशान् संन्यस्तः
स वैराग्यसंन्यासी । स्वातिगित्तश्च हेतुवृद्धयः यः सर्वस्याः स वैराग्यसंन्यास
इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ज्ञानसंन्यासः

शान्त्रज्ञानान्पापपुण्यलोकातुभयश्रवणान्प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ष्या-
मूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वममारं निर्वर्त्य द्रुग्गैषणाधनैषणालोकैष-
णात्मकदेहवामनां शान्त्रवामनां लोकवामनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव
प्राकृतिर्यं सर्वमिदं हेयं मत्वा माधनचतुष्टयमपन्नो यः संन्यस्यति
स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४ ॥

ज्ञानसंन्यासस्वरूपमाह—शास्त्रेति ॥ ४ ॥

ज्ञानवैराग्यसंन्यासः

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-
सन्धानेन जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ ५ ॥

विशिष्टज्ञानवैराग्यसंन्यासमाह—क्रमेणेति । क्रमेण वेदान्तज्ञातं सर्व-
मभ्यस्य सर्वमनुभूय सर्वापह्नवमिदं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति ज्ञानं
ब्रह्मातिगित्तसर्वस्यासंभवालोचनं वैराग्यं ताभ्यां ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपा-
सन्धानेन सर्वं विस्पृष्ट्य यो जातरूपधरो भवति सोऽयं ज्ञानवैराग्यसंन्यासी
इत्यर्थः ॥ ५ ॥

कर्मसंन्यासः

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्या-
भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यामाज्ञानरूपधरो वैराग्यमंन्यामी ।
विद्वन्मंन्यामी ज्ञानमंन्यामी । विविदिषामंन्यामी कर्ममंन्यामी ॥७॥

कर्ममंन्यामस्य रूपं विदुः उच्यते-- ब्रह्मचर्यमिति । विधिवत् ब्रह्मचर्यं
समाप्तेति । विद्वान्निष्ठतया ब्रह्मचर्यमंन्यस्मिन् स्मौति-- ब्रह्मचर्येणेति ।
ततः सगन्तमावास्तवतया ऋणदृष्टिर्येचिच्छान्तं सर्वरूपत्वमुपपद्यत इत्यर्थः ॥६. ७॥

निमित्तनिमित्तभेदेन कर्ममंन्यामस्य द्वैविध्यम्

कर्ममंन्यामोऽपि द्विविधः निमित्तमंन्यामोऽनिमित्तमंन्याम-
श्चेति । निमित्तमत्वातुरः अनिमित्तः क्रममंन्यामः । आतुरः
सर्वकर्मलोपः प्राणभ्योऽन्तःकरणकालमंन्यामः स निमित्तमंन्यामः ।
दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥८॥
हंमः शुचिषट्मगुणन्तरिक्षमद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणमत् ।

नृषद्वरमदनमद्वयममदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥९॥
ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्य क्रमेण यः संन्यस्यति स
मंन्यामोऽनिमित्तमंन्यामः ॥ १० ॥

निमित्तानिमित्तभेदेन कर्ममंन्यामस्य द्वैविध्यमाह-- कर्मेति । निमित्ता-
निमित्तशब्दार्थमाह-- निमित्तमत्वातुरः, अनिमित्तः क्रमसंन्यास इति ।
निमित्तमंन्यामार्थं विदुः उच्यते-- आतुर इति । अनिमित्तस्य रूपमाह-- दृढाङ्ग
इति । ऋतं बृहत् इति मन्त्रानुगोष्ठेन ब्रह्मवर्तं ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं
नश्वरम् ॥ ८-१० ॥

कुटीचकादिभेदेन संन्यासः षड्विधः

संन्यासः षड्विधो भवति, कुटीचको बहुदको हंमः परम-
हंसस्तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥ ११ ॥

कतिविधः संन्यासः इत्यत्र कुटीचकादिभेदेन पदविधः इत्याह—संन्यास इति । तत् कथं कुटीचक इति ॥ ११ ॥

कुटीचकलक्षणम्

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलधरः कौपीनकन्था-
धरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरत्ननित्रशिक्यादिमन्त्रमाधनपर
एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ १२ ॥

बहुदकलक्षणम्

बहुदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवन्मर्ममो
मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी ॥ १३ ॥

हंमलक्षणम्

हंमो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी अमंकलसमाधूकरा-
न्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ १४ ॥

परमहंमलक्षणम्

परमहंमः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहध्वेकरात्रान्नादनपरः
करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा
भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ १५ ॥

तेषां लक्षणं क्रमेण स्पष्टयति—कुटीचक इति । त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी
त्रिपुण्ड्रं ऊर्ध्वपुण्ड्रं वा यथासंभवं धरति नोभयमित्यर्थः । असंक्लृप्तमाधू-
करान्नाशी अस्य गृहेऽथ माधूकरं मे स्यादिति संक्लृप्तहितः ॥ १२-१५ ॥

तुर्यातीतलक्षणम्

तुर्यातीतो गोनृगः फलाहारी, अन्नाहारी चेद्बृहन्नये,
देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ १६ ॥

अवधूतलक्षणम्

अवधूतस्त्वनियमोऽभिशम्नपनिवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-
वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंगानपरः ॥ १७ ॥

गोमुखः गोवत् यदच्छालच्छास्त्रमुक्त्वग्रमनान् । तथा च वक्ष्यति—
“आम्येन तु यदाह्वानं गोवन्मृगयते मुनिः” इति । कुणपवच्छरीरवृत्तिकः
यथा कुणपो निश्चेष्टः तथा निर्विकल्पकसमाधिकवञ्चितव्यापृन्तिवात् ॥ १६, १७ ॥

जीवनः आतुरस्य क्रमसंन्यासः

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥ १८ ॥

यद्यातुरो जीवति तेन किं कर्तव्यमिति आह—आतुर इति । गुरुमुक्तः
णवमहायाक्यादिस्वीकार एव क्रमसंन्यासः न त्वष्टश्राद्धादिः तस्य प्रेषोच्चारण-
समकाल्यप्रक्रियत्वात् ॥ १८ ॥

कुटीचकादीनां संन्यासविधिः

कुटीचकवहूदकहंमानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत्कुटीच-
कानां संन्यासविधिः ॥ १९ ॥

कुटीचकादीनां संन्यासविधिः कथं इत्यत आह—कुटीचकेति । कुटीच-
कानां संन्यासविधिः समानः ॥ १९ ॥

परमहंसादित्रयाणां संन्यासविधिः

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः सर्ववर्णैकमैकाशटनपरत्वं ज्ञानरूपधरत्वं विधिः । संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विमुञ्च्यथ ज्ञानरूपधरश्चेन्न कन्यालेशः नाध्येनव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किञ्चिन् । प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि । बह्वञ्छब्दाच्चाध्यापयेन्न महद्वाचो विलापनं गिरा, पाण्यादिना संभाषणं, नान्यभाषाविशेषेण, न शुद्धस्त्रीपतिनोदक्यासंभाषणम्, न यतर्देवपूजानुत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २० ॥

परमहंसादित्रयाणां परमहंसनुर्यानीतावधूतानाम् । यदि परमहंसश्रवणार्थं तदा ण्डादिकं स्वीकृत्य संशयादिपञ्चदोषशान्तिपूर्वकं यावद्ब्रह्मापरोक्षो जायते तावत्सर्वकर्मसंन्यासकालेऽपि संन्यासदशायामपि ।

“ शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वाम्ने जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ”

इति श्रुत्यनुरोधेन अलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य श्रवणादिजन्यज्ञाने मिदं । तदनन्तरमिति । अवधूताश्रमेऽपि कन्यादिकं ग्राह्यमेवेत्यत आह—नेति । यत्किञ्चिदपि नाध्येतव्यः । गिरा वृथाकथनम् । पाण्यादिना संभाषणं हस्तादिसंज्ञया व्यापृतिपरो न भवेदित्यर्थः । स्वमिन्नधिया न यतर्देवपूजानुत्सवदर्शनम् । यन्निना तत्रापि स्वात्मदर्शनमेव कार्यमित्यर्थः । तथा तीर्थयात्रावृत्तिः ॥ २० ॥

कुटीचक्रादीनां भिक्षाविशेषः

पुनर्यतिविशेषः । कुटीचक्रस्यैकत्र भिक्षा, बहूदकस्यासं-
कूलसमाधूकरम्, हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकबलम्, परमहंसस्य पञ्चगृहेषु

कण्ठाव्रम, फलाहारं गोमृगं तुरीयानीनम्य, अवधूतम्याजगरवृत्तिः
 मार्ववर्णिकेषु । यतिनैकगत्रं वसेत् । नैकम्यापि नमेत् । तुरीया-
 नानावधूतयोर्न ज्येष्ठः । यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः ।
 हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमार्गेहेन यानाधिरुद्धो न
 क्रयविक्रयपरो न किञ्चिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृनवादी ।
 न यतः किञ्चित्कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेन्मां कार्यम् । तस्मान्मननादौ
 मन्यामिनामधिकारः ॥ २१ ॥

पुनर्यनिविशेषः । कुटीचकार्दानीं निश्चाविशेष उच्यते— कुटीचकर्त्तेति ।
 यत्र कुत्रापि यतिः नैकगत्रं वसेन्न कस्यापि नमेन् गुणज्येष्ठदिवन्दनं कार्य-
 मिति चेत्तत्र—तुरीयानीनेति । तुरीयानीनादेः ज्ञानज्येष्ठत्वात् तस्य प्रवृत्ति-
 निवृत्तपराङ्मुक्त्वेन किञ्चिदपि कर्तव्याभावात्—हस्ताभ्यामिति । कदापि न
 यतः किञ्चित् कर्तव्यमस्ति । अस्ति चेत् तदा भवति साङ्कर्यम् । यस्मात्
 एवमुक्ताचरणतो ब्रह्मादिमाङ्कर्यं भवति तस्मात् । आदिगव्येन ब्रह्मभावापत्त्या
 प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रामत्तूयामवस्थानं द्योत्यते ॥ २१ ॥

तेषां प्राप्यस्थानानि

आतुरकुटीचकयोर्भूलोकभुवर्लोकौ, बहुदक्षस्य स्वर्गलोको,
 हंसस्य तपोलोकः, परमहंसस्य मत्तलोकः, तुरीयानीतावधूतयोः
 स्वान्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ २२ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते क्लेवरम् ।

तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशामनम् ॥ २३ ॥

ज्ञानाविकलकुटीचकार्दानीं प्राप्यमुच्यते—आतुरेति । यदि सविशेषज्ञानी
 तदा तस्य परमहंसस्य सत्यलोकः । यदि निर्विशेषब्रह्मज्ञानिनौ तुरीयानीतावधूतयोः

भवतः तदा तयोः तुर्यातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव केवल्यम् । यत एव स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ब्रह्मभावापत्तिर्भवति अत एव स्वस्वरूपानुसंधानं मदा कार्यमित्यर्थः । किमर्थं मदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याकांश्यां निर्विदोषज्ञानिनो ज्ञानसमकालमेव मुक्तत्वेऽपि सविदोषज्ञानिनस्तदभावान् मदा स्वरूपानुसंधानं कर्तव्यमित्याह— यमिति । चरुमदजायां यं यं वापीति तथाच स्मृतिगपि—

“अन्नकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलत्रम् ।

यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥”

इति ॥ २२, २३ ॥

ब्रह्मानुसन्धानमेव कर्तव्यम्, नान्यत्

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् । तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यमंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रमक्तिस्तदाचारः । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः । अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः । कार्यभेदात्कारणभेदः । तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम् । वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४ ॥

नेत्रम्यं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।

सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥ २५ ॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थाया-

मपि नादृशवन्था भवति । म जीवन्मुक्त इति वदन्ति । सर्वश्रुत्यर्थ-
प्रतिपादनमपि नस्यैव नुक्तिरिति । भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः ।
यद्यपेक्षाम्नि चेत् तदनुष्ठानं भवति । स्वरूपानुमन्वानव्यतिरिक्तान्य-
शास्त्राभ्यासैः उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वचयः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न
माग्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रनन्त्रव्यापारः । इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्मि
चेच्छ्रवाण्कारवत् । चर्मकावदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरः । न प्रणव-
कीर्तनपरः । यद्यन्तर्गम करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डनैलफेनवदतः
सर्वं परित्यज्य तन्प्रपक्तं मनोदण्डं कम्पात्रं दिग्म्वरं दृष्ट्वा परित्रजे-
द्भिक्षुः । बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीविनं वा न काङ्क्षेत्, कालमेव
प्रतीक्षेत् निर्देशभृतकन्यायेन परित्राडिति ॥ २६ ॥

यदेवं श्रुतिस्मृतिश्रामानां तदेवं ज्ञात्वा सविशेषज्ञानीं स्वरूपानुसंधानं
विनान्यथाचारपरो न भवेत् ब्रह्माहमस्मीति सदानुसंधानं कुर्यादित्यर्थः । अन्य-
थाचारपत्वं बाधकमाह—तदाचारवशान्तत्तल्लोकप्राप्तिरिति । निर्विशेषज्ञानि-
नोऽपि तथा म्यादिति चेन्न तस्य नियन्त्रियोगिकब्रह्ममात्रभावापन्नत्वेन स्वातिरिक्त-
प्रवृत्तिनिवृत्तिरन्यनामभवात् । सविशेषज्ञानिनोऽपि तथा स्यादिति चेन्न सविशेष-
ज्ञानिनः स्वातिरिक्तजाम्रदादिप्रपञ्चप्रतीतिमभवात् । ब्रह्मानुसंधानं विनान्यथाचारपरो
न भवेदित्याह—ज्ञानेति । अपरब्रह्ममात्रं तन्वैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव
मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिः यदि सर्वत्राचारप्रसक्तिः तदाचारोऽनर्थाय
भवेदित्यर्थः । तत् कथं इत्यत्र स्वातिरिक्तजाम्रदादिभिन्नावृत्तदृष्ट्या जाम्रत्स्वप्र-
सुषुम्निष्वेकसरीरस्य तदवच्छिन्नजीवस्यावस्थामेदेन नामन्यापारादिकं भिद्यते
तथा जाम्रत्काल इति । तासु जाम्रदाद्यवस्थासु वागादिचतुर्दशकरणानां
बाह्यवृत्तयोऽन्तर्बुत्तयः सन्ति । चत्वारः चत्वारः । कस्ताः इत्यत्र—मन इति ।
तासां प्रवृत्त्याचारमेदः । तत् कथं नेत्रस्थमिति । विधादिरूपेण नेत्रादिप्रविभक्त-

जाग्रदाद्यवस्थात्रयं भासयन् योऽहं मूर्ध्नि तुर्यरूपेणावस्थितोऽस्मि सोऽहमात्मानं तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा तज्ज्ञानमहिम्ना कृतकृत्यो भवामि । किंच—जागर्गिण इति । यथा मुष्ट्यवस्थापन्नो विषयज्ञानं न हि विजानाति तथा जागर्गिणेऽपि श्रोत्रादिकरणेन यद्यत् श्रुतं यद्यत् दृष्टं तत् सर्वमविज्ञातमिव यो वर्तते तस्य स्वप्नावस्थायामपि सुषुप्तवद्विषयभेदं न हि गृह्णाति स जीवन्मुक्त इति वदन्ति । तथा च वक्ष्यति—

“स्वप्नेऽपि यो हि युक्तस्य जाग्रतीव विशेषतः ।

ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥”

इति । तथाविधस्यापि यदि स्वातिरिक्तविषयाकांक्षा स्यात् तदा तस्मिन् काले विदेहो देहस्मरणवर्जितः—“ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वममन्त्रितः” इति श्रुत्यनुगोचरेण स्वरूपतः च्युतिः स्यादित्याह—भिक्षुरिति । यद्यपेक्षास्ति चेत्तदनु रूपो भवति । अन्यशास्त्राभ्यासैः अन्यशाम्नाभ्यासः । यत् एवं स्वातिरिक्तास्तित्वप्रवृत्तितो महाननर्थो जायते । निर्विकल्पकब्रह्मानुसंधानं स्वात्मानं करपात्रं दिगम्बरं अवधूतप्रवृत्तिनिवृत्तिं दृष्ट्वा परित्रजेत् भिक्षुः कदापि । बालोन्मत्तेति निर्देशनिर्वंशभृतकन्यायेन परित्राडिति ॥ २४-२६ ॥

अनुसन्धाने पात्रित्यम्

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥ २७ ॥

न दण्डधारणेन न मुण्डनेन

न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥ २८ ॥

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ।

स याति नरकान्बोरान्महारौरवसंज्ञिकान् ॥ २९ ॥

प्रतिष्ठा मुक्तीविष्टाममा गीता महर्षिभिः ।

तस्मादेनां परित्यज्य क्रीडवत्पर्यटयति ॥ ३० ॥

मविशेषज्ञानं निर्विशेषज्ञाननाशनननुष्टाय केवलवैषमायनः माधुवृत्तिकर्जको भूत्वा स्वयमपि नश्यतीत्याह—तिनिश्चेति । निर्विशेषज्ञानमुख्यमाधनतिनिश्चा-
ननैवगम्यशमादिगुणवर्जितः । “न च संत्यमनादेव मिद्धि समधिगच्छति”
इति स्मृतेः ॥ परमदयावतां श्रुतिगम्यं परिव्राजकधर्मपुगं बहुप्रकारेण प्रतिपाद्यापि
पुनः पुनः जाप्तिनां त्यक्त्वा प्रकटयतीत्याह—“नेत्यादिना । तद्विपर्यये काष्ठदण्ड
इति । अयं सर्वोत्तम इति ॥ २७-३० ॥

नुर्यातातानां भोजनादिकं अन्यर्थावेच्छयैव

अथाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवत् ।

परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥ ३१ ॥

नुर्यातानादेः स्नानादिकं परेच्छया स्यादित्याह—आयाचितमिति ॥ ३१ ॥

ब्रह्मविद्वरिष्ठः

स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः ।

ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥ ३२ ॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रामङ्गविवर्जितः ॥ ३३ ॥

अभिपुजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः ।

अभिपुजितलाभैस्को यतिर्मुक्तोऽपि नश्यते ॥ ३४ ॥

कोऽयं ब्रह्मनिष्ठः इत्यत्र—स्वप्नेऽपीति ॥ लाभार्थो हर्षादिदृष्टः ब्रह्मनिष्ठता
कुतः इत्यत्र—अलाभे इति । मात्रासङ्गविवर्जितः शब्दादितन्मात्रासङ्गो भूत्वा
प्राणधारणातिरिक्तव्यापृतिर्न भवेदित्यर्थः । भक्तजनप्रेमविषयाणामसङ्गताः कुतः
इत्यत्र—अभिपूजितेति । लाभैस्को लाभन्तः लाभवानित्यर्थः ॥ ३२-३४ ॥

यतीनां भोजनादिनियमाः

प्राणयात्रनिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जनं ।
काले प्रशस्तवर्णानां भिक्षार्थं पर्यटद्गृहान् ॥ ३१ ॥
पाणिपात्रं चरन्योगी नामकृद्भैक्षमाचरेत् ।
तिष्ठन्मुज्याच्चरन्मुज्यान्मध्ये नाचमनं तथा ॥ ३६ ॥
अब्धीव धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः ।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु मोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८ ॥
अनिन्द्यं वै ब्रजन्गोहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत् ।
अनावृते विशेषद्वारि गेहे नैवावृते ब्रजेत् ॥ ३९ ॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४० ॥

परमहंसादीनां माधूकरपात्रास्याहारप्रकारमाह—प्राणेति । प्रामाद्वहिर्वृक्ष-
मूले स्थित्वा यथोक्तकाले प्राणयात्रानिमित्तभिक्षार्थं ग्रामं प्रविश्य यथाविधि
भिक्षामटेदित्यर्थः ॥ ततः करपात्रनियममाह—पाणिपात्रमिति ॥ कृतार्थानामेवं
नियतिः का इत्यत्र—अब्धीवेति ॥ माधूकरादिवृत्तित्रयेऽपि अनिन्द्यमिति ॥
तद्वसतिमाह—पांसुनेति ॥ ३९-४० ॥

यतेः त्रितेन्द्रियतन्त्रम्

यन्नाम्नमिनशायी म्यान्निगग्निगनिकेतनः ।

यथाब्धोपजीवी म्यान्मुनिर्दानो जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥

निष्क्रम्य वनमाम्नाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः ।

कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः ।

न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥ ४३ ॥

निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नमंशयः ।

नैव कृष्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥ ४४ ॥

पृण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।

काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे ॥ ४५ ॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।

अज्ञानचर्या लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ।

अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥ ४६ ॥

मनुयावामपुरग्रामान् निष्क्रम्य । प्राग्ब्रह्मकालकाङ्क्षी ॥ प्राणिमात्र-
मात्मधियाहिंसन् । किं च स्वान्यत्र—निर्मानश्चेति । ब्रह्मभूयसे ब्रह्मभावस्य
समर्थ्यते इत्यर्थः ॥ ४१-४६ ॥

यतेः सर्वकर्मपरित्यागः

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।

लोकमंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥ ४७ ॥

नामच्छास्त्रेषु सज्जेन नोपजीवेत जीविकाम् ।
 अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ ४८ ॥
 न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून् ।
 न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्कचित् ॥ ४९ ॥
 अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत् ।
 कविर्मूर्खवदात्मानं तदृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥ ५० ॥
 न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वमाधु वा ।
 आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥ ५१ ॥
 एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
 आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्ममदर्शनः ॥ ५२ ॥
 बुधो बालकवन्क्रीडः कुशलो जडवच्चरेत् ।
 वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्या नैगमश्चरेत् ॥ ५३ ॥
 क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽप्युयितोऽपि वा ।
 ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥ ५४ ॥
 विष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः ।
 श्रेयम्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥ ५५ ॥
 संमाननं परां हानिं योगद्वेः कुरुते यतः ।
 जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥ ५६ ॥
 तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
 जना यथावमन्येरन्वाच्छेयुर्नैव संगतिम् ॥ ५७ ॥

जगद्युज्ज्वलं चान्द्रिदां वाह्मनःकायकर्मभिः ।

युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वमङ्गांश्च वर्जयेत् ॥ ३८ ॥

कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये ।

तांस्तु दोषान्पण्डित्यज्य पण्डिता इ भयवर्जितः ॥ ३९ ॥

तेनापि ऋक्संह्यार्थं कर्म कर्तव्यमित्यत आह—आशीरिति । परैर्वापि न कारयेत् ॥ यदि श्रेयार्थं मुनिस्तदा नामच्छाम्नेष्विति । स्वयं अतिवादांस्त्यजन्तकान् यदिप्रतिवादिनेर्मध्ये पक्षं कंचन नाश्रयेत् ॥ स्वयंशानिमित्तं न शिष्यानुबन्धीत । अनात्मशास्त्रोद्देशेन न व्याख्यामुपयुञ्जीत । नारम्भानारमेन कचिन् निष्कल्यो भवेदित्यर्थः ॥ सर्वज्ञोऽपि कविः ॥ मुनिः समहायः नंचरेदित्यत आह—एक इति ॥ ब्रह्मातिगित्योर्थाथान्म्यं बुधो बालकवत्क्रीडः सर्वार्थकुशलो जडवच्चरेत् वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् निगमार्थतत्त्वज्ञोऽपि गोचर्या इदमस्तु इदं माम्ब्रूति न प्रकृत्यन्ती नैगमश्चरेत् ॥ कालकर्मयोगतः परैः क्षिप्र इति । ब्रह्मयाथान्म्यानुमंथानयोगेन क्वद्विस्तन्मात्रमिति तस्य सोऽयं योगद्विस्तस्य मन्मानं परं हानिं वा यः कुरुते स स्वकृत्यानुत्पन्नं फलमनुभवति यत एवमस्तः परकृतपुत्रनताडनादिमहानात् योगी योगफलमर्हतीत्याह—जनेनेति । यथा सहनात् योगमिद्धिः तथा चरेत् । स्वयं स्वधर्माननुष्ठानं सद्धर्मदूषणमित्यर्थः । सन्तः जनाः इति ॥ स्वयंसाधवर्मनोऽपि प्राणी सामान्यद्रोही न भवेदित्याह—जगद्युजेति ॥ किंच प्राणिमामान्यविषये कामक्रोधाविति ॥ ४७—५९ ॥

यतेः अमाधारणधर्माः

यैसाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।

सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥ ६० ॥

काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।

ग्रामान्ते वृक्षमूले वा कसेदेवालयेऽपि वा ।

भिक्षेण कर्तत नित्यं नैकाजाशी भवेत्कचित् ॥ ६१ ॥

चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः ।

तत्र प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित् ॥ ६२ ॥

बहिरन्तश्च सर्वत्र मंपश्यन्हि जनार्दनम् ।

सर्वत्र विचरन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥ ६३ ॥

ममदुःखसुखः क्षान्तो हन्तप्राप्तं च भक्षयन् ।

निर्वैरण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु ॥ ६४ ॥

भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।

चिन्तयन्परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥ ६५ ॥

ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो

भूत्वा सर्वदा मनोवाङ्मयकर्मभिः सर्वममारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः

स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति इत्युपनिषत् ॥ ६६ ॥

यनेगसाधागणधर्मस्तु—भैक्षाशनमित्यादि ॥ यावच्चित्तशुद्धिस्तावदवस्थादि
स्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपूर्वकं वेदान्तश्रवणादि कृत्वा ततः संन्यस्य सर्वत्र चगन्
एकत्र तिष्ठन् वा ब्रह्मानुसंधानं कुर्यादित्याह—चित्तेति ॥ एकत्र स्थिरासनो भूत्वा
भावयन्निति । स्मरन् कालं नयेदित्यर्थः ॥ एतावता ग्रन्थेन योऽर्थोऽभिहितः
तज्ज्ञानतः अवधूतो भूत्वा स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममुक्तो भवतीत्याह—ज्ञात्वैति ।
ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा पराङ्मनो येन दण्डयते तत्प्रत्यगाभिनब्रह्मज्ञानं
मनोदण्डमित्युक्तम् । तज्ज्ञानस्य मनःप्रविलापनाधिकरणगोचरत्वात् स्वातिरेकेणा-
भासतोऽपि किंचिदस्तीति मिथ्याज्ञानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरोऽवधूतो भूत्वा ।
स्वातिरिक्तप्रपञ्चावाङ्मुखः प्रपञ्चोऽस्ति नास्तीति विभ्रमविलो भूत्वा स्वरूपानु-
संधानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीति । “कीटको भ्रमं व्याप्यन्
भ्रमत्वाय कल्पते” इति भगवत्पादोक्त्यनुरोधेन सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रति-

योगिंश्चस्वमात्रमिति प्रवोचममकालं म्वातिगित्तत्रममुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युप-
निषच्छब्दः । नमो नरेन्द्रासमाभ्यर्थः ॥ ६०-६६ ॥

इति पञ्चमोपदेष्टः

मोक्षप्राप्त्युपायविज्ञाना

अथ नारदः पितामहमुवाच । भगवन् तदभ्यामाद्भ्यमरकीट-
न्यायवन् । तदभ्यामः कथमिति । तमाह पितामहः । मत्पुत्राज्ञान-
वैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥ १ ॥

स्वरूपानुसंधानतो मुक्तो भवतीत्युक्तम् । तदुपायबुधुत्सया पितामहं नारदः
पृच्छतीत्याह—अथेति । नारदेनैवं पृष्टो भगवान् तत्प्रश्नमर्द्धाकृत्य प्रतिवचनमा-
चष्टे—तमाह पितामह इति । सर्वावस्थाम्नापि सर्वप्राणिप्रियहितसत्यवाग्ज्ञान-
वैराग्याभ्याम् ॥ १ ॥

विद्वद्देशरीषवर्णादिकम्

ज्ञानं शरीरं, वैराग्यं जीवनं विद्धि, शान्तिदान्ती नेत्रे, मनो
मुखम्, बुद्धिः कला, पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि, अवस्था पञ्चमहा-
भूतानि, कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शास्त्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिचतुरीयाः,
चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीत्येवमपि नावमपि पङ्कं कर्णधार
इव, यन्तेव गजम्, स्वबुद्ध्या स्ववशीकृत्य, अस्मद्व्यतिरिक्तं सर्वं
कृतकं नश्यमिति मत्वा, विरक्तः पुण्यः सर्वदा ब्रह्माहमिति
ब्रह्मदेवात्मात्मैक्ये दितव्यं स्वव्यतिरेकेण जीवन्मुक्तो भूत्वा

वसेत्कृतकृत्यो भवति । न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत्किंतु ब्रह्माह-
मस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तुरीयावस्थां प्राप्य तुर्यानीतत्वं
ब्रजेन् ॥ २ ॥

विद्वदेहः कीदृशः इत्याकाङ्क्षायां तच्छरीरं वर्णयति — ज्ञानमिति । अपर-
ब्रह्मज्ञानं शरीरं तदतिरेकेणाब्रह्मप्रपञ्चे वैराग्यं जीवनं प्राणन्वम्बपं विद्धि
शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं मनस्तत्त्वं प्रत्यक्चैतन्यं सुखमित्यर्थः । बुद्धिः
कला प्राणादिनामान्तोऽङ्गकलाधरिण कलानां बुद्धिविकल्पितत्वात् वाक्श्रोत्र-
कर्मज्ञानाक्षदशकं शब्दादिपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं अन्तःकरणचतुष्टयमव्यक्तं चेति
पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवानि समष्टिजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिपुरीयातीतानां अवस्था
पृथिव्यादिष्वमहाभूतानि कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शास्त्रा शास्त्रास्थानायवाहवः ।
पुनः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिपुरीयाश्चतुर्दशकरणानि । कर्मज्ञानाक्षदशकमन्तःकरण-
चतुष्टयं चेति चतुर्दशकरणानि अदृष्टप्रकृतस्तम्भाकाराणीति एवमपि एवं
स्थितेऽपि नावमपि पङ्क्त पङ्क्तं स्पृष्टनावमपि । कर्णधार इव यथा कर्णधारो
नौकाचालकः सन्पथं नयति । स्वव्यतिरेकेण न किञ्चिदस्ति स्वयमेव ब्रह्म
इत्यपरोक्षज्ञानात् जीवन्मुक्तो भूत्वा वसेन् कृतकृत्यो भवति । व्यवहारदशायामपि
न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेन् किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं भावयेदित्यर्थः । ततः किं
इत्यत्र स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्विति । अहं ब्रह्मस्मीति सदानुसन्धाना
जाग्रदाद्यवस्थात्रये सत्यसति जीवन्मुक्तिनिर्वर्त्यतुरीयावस्थामेव तनस्तुर्यानीतत्वं
विदेहमुक्तत्वं भजेदित्यर्थः ॥ २ ॥

तुर्यातीतत्वप्राप्तुपायः

दिवं जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमिति । एकावस्थायां
चतस्रोऽवस्थाः । एकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापाराश्च-
क्षुरादीनाम् । चक्षुषो रूपग्रहणम्, श्रोत्रयोः शब्दग्रहणम्, जिह्वाया

गमाम्वादनम्. घ्राणस्य गन्धग्रहणम्, वचसो वाग्व्यापारः,
 पाणोगदानम्. पादयोः संचारः. पायोरुन्मर्गः, उपस्यम्यानन्दग्रहणम्,
 न्वचः स्पर्शग्रहणम् । तदर्शीना च विषयग्रहणा बुद्धिः । बुद्ध्या
 वृथ्यति । चित्तेन चेतयति । अहंकारेणाहंकरोति । विमृज्य जीव
 एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति । गृहाभिमानेन गृहस्य इव शरीर
 जीवः संचरति । प्राग्दत्ते पुण्यावृत्तिगमेत्यां निद्रान्मर्यादं दक्षिणायां
 क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारनिर्वाय्यां गमने बुद्धि-
 रुत्तरे शान्तिः ईशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केमरेष्व्वात्मचिन्ता
 इत्येवं वक्तुं ज्ञान्वा ॥ ३ ॥

तुरीयार्तानं किम् . तदाम्युपायः कः, इत्यत आह—दिवमिन्यादि । तुरीयार्ताने
 ब्रह्मणि स्याद्भ्रंशगुणाम्पान्तिका तुर्यावस्था विकल्पिता तत्र तुरीयार्तानमेव तदसङ्ग
 तुर्येवन् भासते तत्र तुरीये दिवान्तं विकल्पितम् । तत्र दिवं दिवा जाग्रन् स्वप्नं
 स्वप्नः नक्तं अर्धरात्रमेव मुषुमभावांगतं इत्येवमवस्थात्रयं निरूप्यम् । तत्रैकै-
 कावस्थायां चतस्रोऽवस्थाः पश्चान् प्रतिपाद्यन्ते । तदनुगोघेन मन आर्धैकैक-
 करणाधीनानां वागादिचतुर्दशकरणानां चक्षुरादीनां व्यापारा उच्यन्ते ।
 चक्षुषो रूपग्रहणं इत्याद्यहंकारेणाहंकारेर्नान्यन्तम् । एतान् जीवो विस्तृज्य
 विशेषेण सृष्ट्वा तत्संघातदेहाभिमानेन तुर्यचैतन्यमेव जीवभावमापन्नवन् भवति ।
 शरीरे तदवच्छिन्नाष्टदलाञ्छितहृदयकमले तत्रत्यदलेषु प्रागादिक्रमेण गृहाभिमानेन
 गृहस्य इव जीवः संचरति । तत्र प्रागाद्यष्टदलेषु पुण्यादिवृत्तिविशिष्टो भूत्वा
 ईशान्यदलं प्रविशतो वस्तुज्ञानं कर्णिकासंचारतः स्वातिरिक्तप्रपञ्चवैराग्यमेत्य
 तत्केस्रसंचारतः मनान्मापहवसिद्ध आत्मा स्वमात्रमिति चिन्तोदेति । इत्येवं
 वक्त्रं चैनन्यवक्त्रं स्वरूपं ज्ञात्वा विद्वान् ज्ञानसमकालं तुरीयार्तब्रह्ममात्रमव-
 शिष्यते ॥ ३ ॥

तुर्यातीतस्वप्नम्

जीवदवस्था प्रथमं जाग्रद्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम् । विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहंन् । नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्थाः । न त्वेवं तुर्यातीतस्य निर्गुणस्य । स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञ-
श्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावनिष्ठते । उत तटस्थो द्रष्टा । तटस्थो न द्रष्टा । द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव । कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः । जीवेतरो न स्पृष्टः । जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न । जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः, शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद्यवधानोऽस्मि । व्यवधानवशादेव हंमः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासमिन्द्रियमव्यपदेशेनानुमंथनं करोति । एवं विज्ञाय शरी-
राभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥ ४ ॥

कथं पुनस्तुर्यातीतस्वरूपं इत्यत आह—जीवदवस्थेति । जीवदवस्थासु जीवाधिष्ठितावस्थाचतुष्टये प्रथमावस्था जाग्रन् द्वितीयं स्वप्नावस्था तृतीयं सुषुप्त्यवस्था चतुर्थं तुर्यावस्था भवति । यज्जाग्रदादिचतुर्वस्थाविरहितं तु तुर्यातीतं तत्तुर्यातीतसिद्धेः जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयापह्नवपूर्वकत्वात् स्वाज्ञादिदृष्टिर्माहे सत्यसति तुर्यातीतं निःप्रतियोगिकस्वमात्रमवशिष्यत इत्यर्थः । एकस्यैवात्मनो जाग्रदाद्यवस्थायोगात् विश्वादिभेदविशिष्टो भवति न स्वतः स्वतस्त्वेक एव तज्ज्ञानात्तद्भावापत्तिः स्यादित्याह—विश्वेति । जाग्रदाद्यवस्थायोगप्रभवविश्वतैजस-
प्राज्ञतटस्थभेदैः व्यक्लत आत्मा एक एव । एको देवः साक्षी निर्गुणश्च

एक एव स्वप्रकाशचिद्भानुः देवः स्वसाक्ष्यगुणत्रयसङ्गाव साक्षी तदभावे निर्गुणः ।
 चन्द्रादौ निष्प्रतियोगिकनिर्गुणत्वग्न्यापनार्थः । यदेवं निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं
 तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत् । तन् स्मनात्रमित्यनुसंधानं कुर्यात् । नतस्तद्भावापत्तिः
 स्यादित्यर्थः । पञ्चान्तर्गताह—नोचेदिति । जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयकलनाविगलं तुर्या-
 र्त्तानामिति मन्तव्यम् । नोचेत् यत्रावस्थाचतुष्टयप्रविभक्तजाग्रज्जाग्रदादितुर्यस्वा-
 पान्तपञ्चदशविभागकलना न विद्यते तदेव तुर्यतुर्यांशविभागे तुर्यतुर्यं तुर्यार्त्तानं ब्रह्म
 नेतव्यम् । तुर्यार्त्तानस्य निर्गुणस्य निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यस्य विभागकलनावैगल्यात्
 तस्यैव स्थूलादियोगतो विश्वादित्वं सर्वसाक्षित्वं सर्वकलनास्पृष्टत्वं चाह—
 स्थूलेति । साक्षी द्रष्टा । उत यद्वा तदस्य ईश्वरः इति चेत् तदस्थो न द्रष्टा
 साक्षी भवितुमर्हति । तदस्यैव बीजोपाधिकेश्वरकृता दृष्टत्वात् । अतोऽयं न द्रष्टैव
 तयाऽप्ययं कर्तृत्वाद्यभिमतिविगल इत्यर्थः । नोचेत् जीव एव द्रष्टा भवितुमर्हति
 इत्यत आह—कर्तृत्वंति । कर्तृत्यादिकलनया स्पृष्टो जीवः । साक्षी तु तदस्पृष्टः
 तस्य सर्वत्र आत्मात्मायाभिमतिवैगल्यात् तयोर्महत्स्यन्तरं इत्याह— जीवत्वमिति ।
 यदाकाशमहाकाशवद्वयवधानोऽस्तीति । जीवसाक्षिणोरित्यर्थः । जीवो जीवाभि-
 मतिमुत्सृज्य सर्वसाक्ष्यस्मीति ज्ञानात् ब्रह्मैव भवतीत्याह—व्यवधानेति ।
 जीवसाक्षिणोर्यवधानवशान् जीवः उच्छ्वासनिःश्वासच्छलेन योऽहं स्वाज्ञदशायां
 जीवभावं गतः स्वज्ञानेन स्वाज्ञानापाये सोऽहं सर्वसाक्षी स्यां वस्तुतस्तु
 परमार्थदृष्ट्या जीवत्वसाक्षित्वादिकलनाविगलं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकत्वमात्रमित्यनु-
 संधानं करोति तदायं तन्मात्रेणावशिष्यते इत्येवं जीवो ज्ञात्वा ब्रह्मैव
 भवतीत्याह—एवमिति । यावद्देहादावात्मात्मीयाभिमतिस्तावज्जीवत्वं यदायं
 देहादावात्मात्मीयाभिमतिं निःशेषं त्यजति तदा स एव ब्रह्मेत्यत्र न विवाद
 इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अम्बर्वात्यागः स्वर्गानुष्ठानं च

त्यक्तसङ्को जितक्रोधो लब्धाहारो जितेन्द्रियः ।

पिषाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥ ५ ॥

शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च ।
 नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥ ६ ॥
 आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च ।
 महाजनेषु मिद्धचर्या न गच्छेद्योगवित्कचिन् ॥ ७ ॥
 यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च ।
 तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥ ८ ॥
 वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
 यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥ ९ ॥
 विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधूकरं चरेत् ।
 गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥ १० ॥
 दण्डभिक्षां च यः कुर्यात्स्वधर्मे व्यसनं विना ।
 यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥ ११ ॥
 यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद्भिक्षां च वाप्तवान् ।
 तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥ १२ ॥
 यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
 पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥ १३ ॥
 परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
 वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥ १४ ॥
 नात्मनो वेदः स्वस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
 इति यो वेद वेदान्तैः सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥ १५ ॥

यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्याद्व्यवृत्तः ।

स वर्णानाश्रमान्मर्त्ताननीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥ १६ ॥

योऽनीत्य म्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।

मोऽनिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥ १७ ॥

तस्मादन्यगना वर्णा आश्रमा अपि नारद ।

आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या ते नात्मवेदिना ॥ १८ ॥

न विधिर्न नियमश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।

ब्रह्मविज्ञानिनामस्मि तथा वान्यच्च नारदः ॥ १९ ॥

जावन्मुक्तयतीनामसञ्चर्यान्त्यागपुत्रकं सञ्चर्यामर्षस्वमनुक्रामति—त्यक्त्वेत्यादिना ।
पिथाय बुद्ध्या द्वागणि विषयोपलब्धिवद्वागणि धिया पिथाय ब्रह्मध्याने मनो
निवेशयेन् इत्यर्थः ॥ ध्यानस्थत्वं निगमयति—शून्येष्विति ॥ तस्यागम्यप्रदेश-
माह—आतिथ्येति ॥ तस्य त्रिदण्डमाह—वागिति । मौनानशनप्राणायामैः
वारदण्ड इत्यादि । यतेर्भिक्षाविधिं तद्विपर्यये वाधकमुच्यते—विधूम इति ॥
मुख्यगौणाववृत्तलक्षणमाह—य इति । स्वयंप्रभं स्वयंप्रकाशचिद्भानुम् ॥९-१९॥

विविधोः धर्मादिविधिः

विरज्य सर्वमूर्तेभ्य आविरिच्छिपदादपि ।

घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादिकेष्वपि ॥ २० ॥

श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।

उपायनकरो मूत्वा गुरुं ब्रह्मकिदं ब्रजेत् ॥ २१ ॥

सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।

सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥ २२ ॥

निर्ममो निरहंकारः सर्वमङ्गविवर्जितः ।
 मदा शान्त्यादियुक्तः मन्नात्मन्यान्मानमीक्षते ॥ २३ ॥
 संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते मदा ।
 विरक्तस्य तु संसारात्मन्यामः स्यान्न मंशयः ॥ २४ ॥
 मुमुक्षुः परहंसारुह्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
 अभ्यसेद्ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥ २५ ॥
 ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंसममाह्वयः ।
 शान्निदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥ २६ ॥
 वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
 निर्मयो निर्ममो नित्यं निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ २७ ॥
 जीर्णकौपीनवामाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽप्यवा भवेत् ।
 प्राज्ञो वेदान्तविद्योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥ २८ ॥
 मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
 एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥ २९ ॥
 गुरुणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत् ।
 नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥ ३० ॥
 प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
 अविरोधेन धर्मस्य संचरेत्पृथिवीमिमाम् ॥ ३१ ॥
 ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
 आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥

अनुज्ञाप्य गुह्यंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम् ।
 न्यक्तमङ्गो जितक्रोधो लब्धाहारो जितेन्द्रियः ॥ ३३ ॥
 द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
 निगग्म्भो गृहम्यश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ३४ ॥
 माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा मुरां पीत्वा च माद्यति ।
 तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ३५ ॥
 संभाषणं महर्त्वाभिगालापप्रेषणं तथा ।
 नृत्तं गानं महामं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥
 न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
 नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥ ३७ ॥
 नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
 धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥ ३८ ॥
 संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
 कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगीन् वनस्पतीन् ॥ ३९ ॥
 न नाशयेद्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
 नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥ ४० ॥
 अन्नःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
 नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥ ४१ ॥
 निःस्तुतिर्निर्ममस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
 चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ४२ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

विविधियोः श्रवणविप्रिमाह—विरज्येति । मार्गमोमाद्याविगितिप्रद-
कर्मकलात् सर्वभूतेभ्यो निर्वन्धे प्रयोजनादपि विरज्य विगितिमेव मन्त्यमन्दियर्थः ।
“मन्त्यन्य श्रवणं कुर्यात्” इति स्मृतेः । न्वभिन्नतगुणिकटे मंडाद्यादिप्रदोष-
निवृत्त्यन्तं समाहितकरणग्रामो भूत्वा सर्ववेदान्तश्रवणमेव कुर्यादित्यर्थः ।
“आवृत्तिरसकृदुपदेष्टात्” इति वैयामिकमूत्रानुगोषेन ॥

“अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थबोधो यावद्वदृढो भवेत् ।

शमादिसहितस्नावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥”

इति भगवत्पाठाचार्योक्तेः । ततः किं इत्यत्र—आगदिस्वदेहान्तकलनामु निर्मम
इति ॥ यतः श्रवणादिजन्यज्ञानं कैवल्यप्रापकं अत एव श्रवणादिप्रतिबन्धककार्यं
मन्त्यस्य शान्त्यादिमहितो भूत्वा ज्ञानफलमिद्विपर्यन्तं श्रवणमेव कुर्यादित्याह—
संसारति । कुट्टाचकाद्याश्रमत्रयमुत्सृज्य । परमाश्रमं परमहंताश्रममित्यर्थः ॥
ततः अनुज्ञाप्येति ॥ कीदृशो भूत्वेत्यत्र—त्यक्तमङ्ग इति ॥ निस्संकल्प-
संकल्पाभ्यां गृह्णां भिक्षुः हीयेत इत्याह—द्वाविनि । यदि श्रेयाऽर्थी भिक्षुः
तदामुरातोऽपि विभ्रमकर्म्मवासह्यपादिविमुक्तो भवेदित्याह—माद्यतीति । यस्मादेवं
तस्मान् ॥ परमार्थदृष्टेः स्नानजपादिकर्तव्यता नास्तीत्याह—नेति ॥ लोकसंग्रहार्थं
कर्म कर्तव्यमित्याह—संत्यजेदिति ॥ चरम्यगर्हिंसां न कुर्यादित्याह—कृमीति ॥
चलं शून्यागागदिक्षयिष्णुत्वात् अचलं पर्वतादिः तस्य स्थिरत्वात् यादृच्छिको
भवेत् यदृच्छालाभसंतुष्टो भवेत् नहि यथेच्छाचरणं भवितुमर्हति प्रवृत्तिनिवृत्ति-
संकल्पासंभवात् । इत्युपनिषच्छब्दः षष्ठोपदेशसमाप्त्यर्थः ॥ २०-४२ ॥

इति षष्ठोपदेशः

यतिनियमाः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्ठं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य ।

विरक्तः सन् यो वर्षासु प्रवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नेकत्र निवसे-

द्विभुर्भयात्मारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेन्स्वगमनविरोधग्रहणं न कुर्यात्,
 हम्नाभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यात्, न वृभारोहणमपि, न देवोत्सवदर्शनं
 कुर्यात् । नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । स्वव्यतिरिक्तं सर्वं
 त्यक्त्वा मधुकर्गवृत्त्याहारमाहर्गन्, कृशो भूत्वा, मेदोवृद्धिमकुर्वन्,
 आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्र । अन्नं पल्लमिव, गन्धलेपन-
 मशुद्धलेपनमिव, आगमन्त्यजमिव, वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिव, अभ्यङ्गं
 श्रमोक्तमिव, मित्राह्लादकं मूत्रमिव, स्पृहा गोमांसमिव, ज्ञान-
 चरदेशं चण्डालवाटिकांमिव, स्त्रियमहिमिव, सुवर्णं कालकूटमिव,
 ममास्थलं श्मशानस्थलमिव, राजधानीं कुम्भीपाकमिव, शवपिण्ड-
 वदेकत्रालम् । देहान्तर्गदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य, स्वदेशमुन्मृज्य,
 ज्ञानचरदेशं विहाय, विस्मृतपदार्थपुनःप्राप्तिर्हर्ष इव स्वमानन्दम-
 नुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा, स्वशरीरं शवमिव हेयमुप-
 गम्य, कारागृहविनिर्मुक्तचोरवन्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो
 वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहर्गन्, ब्रह्मप्रणवध्यानानुसंधानपरो भूत्वा,
 सर्वकर्मविनिर्मुक्तकः, कामक्रोधलोभमोहमदमात्मर्यादिकं दग्ध्वा,
 त्रिगुणातीतः, षड्भूमिरहितः, षड्भावविकारशून्यः, सत्यवाक्,
 शुचिः, अद्रोही, ग्रामैकरात्रम्, पत्तने पञ्चरात्रम्, क्षेत्रे पञ्चरात्रम्,
 तीर्थे पञ्चरात्रम्, अनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्द्रेषु
 वसेदेक एव वा द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिः नगरं ^१ चतुर्भिर्नगरमित्येकः
 चरेद्भिः चर्दशकरणानां न तत्रावकाशः दद्यात् । अविच्छिन्न-

ज्ञानाद्वैराग्यमंपत्तिमनुभूय, मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त
इत्यात्मन्यालोच्य, सर्वतः स्वरूपमेव पश्यन्जीवन्मुक्तिमवाप्स्य,
प्रारब्धप्रतिभामनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा, देहपतनपर्यन्तं
स्वरूपानुसंधानेन वसेत् ॥ १ ॥

कुटीचकादिचर्या बहुधा श्रुतापि पुनर्विशेषबुभुक्ष्मया नाग्देन वृष्टः पिनामहः
प्रसक्तानुप्रसक्त्या पुगेक्तमनुक्तं च सर्वमुपदिष्टवानित्याह—अर्थेति । नाग्दं
पिनामहः पुरस्कृत्य सर्वं कथयामास । किं तन् इत्यत्र विरक्त इति । यदि
कृतश्रवणादिसाधनस्तदनधिकारं वा अष्टौ मास्येकाकी प्रार्थकगतं इत्युक्तर्गत्या
संचरेच्चातुर्मास्ये तु एकत्र निवसेन् भिक्षुः भयान् प्राणित्राधा म्यादिति भिया
वर्षास्वेकत्र निवसेत् इत्यर्थः । चातुर्मास्यानन्तरं सारङ्गचदेकत्र न तिष्ठेन् कदापि
स्वगमनविरोधग्रहणं अत्रैव कतिचिद्ग्रहानि वसन्तिनि प्रार्थनार्ङ्गीकारं न कुर्यात् ।
यदि दृढाङ्गः गन्धलेपनमिति । ब्रह्मातिरिक्तधिया न देहान्तर्दर्शनमिति ।
यत्र स्वशरीरगभिमानिनो वर्तन्ते तत्स्वशरीरगभिमानदेशविस्मरणम् । षोडशमात्रा-
प्रणवतदर्थतुर्यतुर्यस्वमात्रमित्यनुसंधानं कृत्वा स्वातिरिक्तसर्वकर्मनिमुक्तकः । यत्र
कुत्राप्यनिकेतः । संचारकाले एक एव चरेत् । चातुर्मास्यादिप्रसक्तौ ग्रामं द्वौ
वा चरेत् त्रिभिः चतुर्भिर्वा नगरं चरेत् विश्वरूपयात्राच्छलेन यत्तिक एव
चरेदित्यर्थः । भिक्षुः वागादिचतुर्दशकरणानां स्वातिरिक्तास्तिन्वभ्रममुत्सृज्य ।
सर्वत इति । विश्वविगडोत्रादिद्वितुर्याविकल्पान्तं नृदत्तहेयांशापायसिद्धमोत्रादिमेदेन
चतुर्विधमिति ॥ १ ॥

कुटीचकादीनां ज्ञानादिनियमेषु विशेषः

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य, बहूदकस्य द्विवारम्, हंसस्यै-
कवारम्, परमहंसस्य मानसस्नानम्, तुर्यातीतस्य भस्मस्नानम्,
अवधूतस्य वायव्यस्नानम् ॥ २ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकम्प्य, त्रिपुण्ड्रं बहूदकम्प्य, ऊर्ध्वपुण्ड्रत्रिपुण्ड्रं
हंसम्प्य, भम्पोद्धूलनं परमहंसम्प्य, तुरीयातीतम्प्य तिलकपुण्ड्रम्,
अवधूतम्प्य न किञ्चित् तुरीयातीतावधूतयोः ॥ ३ ॥

ऋतुभौरं कुटीचकम्प्य, ऋतुद्वयभौरं बहूदकम्प्य, न भौरं
हंसम्प्य, परमहंसम्प्य न च^१ भौरम् . अस्मि चेदयनभौरं, तुरीया-
तीतावधूतयोर्न भौरम् ॥ ४ ॥

कुटीचकम्प्यैकाक्षम्, माधूकरं बहूदकम्प्य, हंसपरमहंसयोः
कम्पात्रम्, तुरीयातीतम्प्य गोमुग्धम्, अवधूतम्प्याजगरवृत्तिः ॥ ५ ॥

शाटीद्वयं कुटीचकम्प्य, बहूदकम्प्यैकशाटी, हंसम्प्य गण्डम्,
दिगम्बरं परमहंसम्प्यैककौपीनं वा, तुरीयातीतावधूतयोर्जात-
रूपधरन्त्वम् । हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम् ॥ ६ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनम्, हंसपरमहंसयोर्मनसार्चनम्,
तुरीयातीतावधूतयोः सोऽहंभावना ॥ ७ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारः, हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधि-
कारः, तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारः, तुरीयातीतावधूतयोर्म-
हावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसम्प्यापि । कुटीचकबहूदकहंसानां
नान्यन्योपदेशाधिकारः ॥ ८ ॥

कुटीचकबहूदकयोर्मातृषप्रणवः, हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः,
तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥ ९ ॥

कुटीचकवहृदकयोः श्रवणम् , हंमपरमहंसयोर्मननम् .
 तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यामः । सर्वेषामान्मानुमंधानं विधिरिति । १० ॥
 एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमुपलब्ध्वीवन्मुक्तो
 वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिः इत्युपनिषत् ॥ ११ ॥

कुटीचकादः स्नानपुण्ड्रक्षौगजनवस्त्रदेवाचनमन्त्रप्रणवादिर्वैचित्र्यमाह —
 त्रिषवणमित्यादि । यद्वा तुरीयातीतावधूतयोः न किञ्चित् पुण्ड्रमस्ति, नयोः
 प्रेच्छाचरणत्वात् । परमहंसस्य न च क्षौगम् । वक्ष्यमाणसमाष्टिवाद्यप्रणवस्य
 चतुर्मात्रतया मानुपप्रणवत्वात् हंमपरमहंसयोगान्तरप्रणवः वक्ष्यमाणाष्ट-
 मात्रात्मकोऽन्तःप्रणव इत्यर्थः । तुरीयातीतावधूतयोः ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्म-
 कतया तुर्यतुर्यगोचरत्वात् । संसारतारकं ब्रह्मप्रणवाभिधानं तारकमनुस्मरन् ।
 कुटीचकादिस्वधर्मानुष्ठानपूर्वकं मोक्षोपायमन्विष्येन्न हि तैः परमहंसोऽनुष्ठेयः
 इत्यत्र स्मृतिः—“श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्” इति ।
 इत्युपनिषच्छब्दः समोपदेयमाप्त्यर्थः ॥ २-११ ॥

इति ममोपदेशः

तारकस्वरूपजिज्ञासा.

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ । संसारतारकं
 प्रपन्नो ब्रूहीति । तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे । ओमिति ब्रूहेति
 व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण । का व्यष्टिः का समष्टिः । संहारप्रणवः सृष्टि-
 प्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधः । ब्रह्मप्रणवोऽन्तःप्रणवो

व्यावहारिकप्रणवः । बाह्यप्रणव आर्षप्रणव उभयात्मको विगटप्रणवः ।

संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥ १ ॥

एवं पितामहान् परमिसुपदंडं लब्ध्वा अथ तारकयाथात्म्यबुभुक्ष्मया नारदेन यत् पृष्ठं तदर्ङ्गकृत्य परमेष्ठी प्रश्नोत्तरमाहेत्याह—अथेति । परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे । किं तन् ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिभावंगतप्रणवावयवाकार-स्थूलांशादिप्रकारेण सह तद्व्याख्यायव्यक्षविश्वविश्वविश्वविश्वानुज्ञैकसान्तकलना-लम्बनं ओं इत्येकाक्षरं ब्रह्मप्रणवार्थं ब्रह्मेति विद्वानि शेषः । तत्र का व्यष्टिः, का समष्टिः इत्यत्र व्यष्टिसमष्ट्यात्मको हि ब्रह्मप्रणवः स्वाज्ञदृष्ट्या त्रिधा भिद्यते । तत् कथं इत्यत्र संमागसृष्ट्यन्तवाद्यादिभेदात् । कोऽयं सृष्टिप्रणवादिः इत्यत्र अधमात्राकारोपासमर्जनसकारमात्राप्रधानोऽयं संहारप्रणवः रूढाधिष्ठितो ब्रह्म-विष्णुरुदाधिष्ठितो वा भवतीत्यत्र—

“त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवामनाः ।

ब्रह्मविश्वर्वाश्वरा विश्वमर्गस्थित्यन्तहंतवः ।

भवेयुर्यत एवासं संहारप्रणवो भवेत् ॥”

इति संहारप्रणवोक्तेः । उकागद्युपसर्जनाकारप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः । तदधिष्ठिता चतुरानन इत्यत्र—

“एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः ।

यतः ससर्ज सकलं सृष्टितार अतो भवेत् ॥”

इति सृष्टिप्रणवोक्तेः । अन्तर्बाह्यप्रणवस्वरूपं पश्चाद्विष्यते । संहारसृष्टि-प्रणवाभ्यां सहान्तर्बाह्योभयात्मकत्वात् ब्रह्मप्रणवस्य त्रैविध्यमुपपद्यते । तत् कथं मात्रात्रयप्रधानोऽयं संहारप्रणवः, एकमात्राप्रधानोऽयं सृष्टिप्रणवः, अष्टमात्रात्म-कोऽन्तःप्रणवः, चतुर्मात्रात्मको बाह्यप्रणवश्च मिलित्वा षोडशमात्रात्मको ब्रह्म-प्रणवो भवतीत्यर्थः । एतावानेव ब्रह्मप्रणवविभागः नातः परमस्तीत्याकांक्षायां स्वाङ्गदृष्टौ स्यां अनेकधा भिद्यत इत्यत्र को विवादः इत्याह—अन्तरिति । एक

एव ब्रह्मप्रणवो बहुधा भिद्यत इत्यत्र—पञ्चागद्वर्णगर्भिणाकागमात्राप्रधानोऽयं व्यावहारिकप्रणवः “अकारो वै सर्वा वाक् मैषा ऋषीर्गोत्रभिः व्यज्यमाना ब्रह्मा नानाम्भ्या भवति” इति श्रुतेः । दुर्गादिपञ्चब्रह्मान्ताधिष्ठितो वैवर्गप्रपञ्चकलनाहेतुव्यावहारिकप्रणव उच्यते इत्यत्र—

“एकमात्रात्मकस्तावः पञ्चागद्वर्णभूषितः ।
वैवर्गकलनाहेतुव्यावहारिक ईरितः ॥
दुर्गादिशक्तित्रितयं तमेच्छादित्रिशक्तिकम् ।
वस्वादित्यरूढजातं नवब्रह्माधिदेवतम् ।
तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ ईर्तागितः ॥”

इति व्यावहारिकप्रणवोक्तेः । समष्टिबाह्यो व्यष्टिप्रणवश्चतुर्मात्रात्मको बाह्यप्रणव उच्यते । स विश्वाधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“व्यष्टेः समष्टिबाह्यन्वात्तूलातुर्योगयोगतः ।
बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गताः ॥”

इति बाह्यप्रणवोक्तेः । अकारोकारभकारविन्दुनाडकलाकलार्तातन्त्वेन ऋषिमण्डलोपास्याऽयं आर्षप्रणवः । स पञ्चब्रह्मविराडन्तर्यामिभिर्गधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“सप्तमात्रात्मकः पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठितः ।
ऋषिमण्डलसेव्यत्वादाः आर्षप्रणव उच्यते ॥”

इत्यर्षप्रणवोक्तेः । अकारोकारोभयात्मकस्थितिप्रणवो ब्रह्मविष्णवधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“यतो विष्णुर्द्विमात्राद्व्यतागोपादान्तोऽन्वहम् ।
गरक्ष विश्वमखिलं स्थितितार अतो भवेत् ॥”

इति स्थितिप्रणवोक्तेः । समष्ट्यकारादिमात्राचतुष्टयात्मको विराट्प्रणवः विराडादिभिर्गधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“चतुस्समष्टिमात्रायुग्विराट्प्रणव उच्यते ।
विराडादिर्भवेद्वाच्यं तल्लक्ष्यं परमाक्षरम् ॥”

इति विगट्प्रणवोक्तः । पुर्वेन्मिन् पयसि मंहारप्रणवो व्याख्यातः । ब्रह्मप्रणवस्तु पश्चाद्विवक्ष्यते । स्यूतादिमात्राचतुष्टयात्मकोऽर्धमात्राप्रणवः ओत्रनुज्ञात्रनुज्ञैक-
मात्रिकल्पमाधिश्रितो भवतीत्यत्र—

“अकार एव चतस्रो ह्यनेकारः स्यूतमूर्ध्वमाक्षिभिर्गेतानुज्ञात्रनु-
ज्ञात्रिकल्पैर्विकल्पो ह्ययमात्मा” ।

इति श्रुतेः ॥ १ ॥

अन्तःप्रणवादीनां स्वरूपकथनम्

ओमिति ब्रह्म ओमिन्येकाभ्रमन्तःप्रणवं विद्धि । स चाष्टधा
भिद्यते । अकारोकारो मकारअर्धमात्रा नादविन्दुकला शक्तिश्चेति ।
तत्र चत्वारः, अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः महत्तावयवान्वितो
मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः । मगुणो
विगट्प्रणवः मंहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः^१ । यथा
प्लुतो विगट्प्लुतप्लुतः मंहारः ॥ २ ॥

ततः अन्तःप्रणवार्थमाह—ओमिति । ओमिति ब्रह्मेति व्याख्यातम् ।
अष्टमात्रात्मकोऽन्तःप्रणवः पञ्चब्रह्मविगट्सूत्रैश्चगधिष्ठितो भवतीत्यत्र—

“अकाराद्यष्टमात्रायुगन्तःप्रणव उच्यते ।

पञ्चब्रह्मविगट्सूत्रैर्बाधैश्चार्थ उच्यते ॥”

इत्यन्तःप्रणवोक्तः । केवलं प्रधानतः चतुर्मात्रात्मकोऽयं प्रणव इति यदुक्तं
तत्र चत्वारः केवलचतुर्मात्रात्मक एव न भवति किं तु तदवयवाकारादेः
व्यष्टिसमष्टिदुर्भयव्यजाग्रजप्रज्ञादितुर्यस्वापान्तारोपापवादाधिकरणविश्वविधाद्यवि-
कल्पानुज्ञैकसान्तप्रपञ्चानुवृत्त्यानन्तमेदवैशिष्ट्यमाह—अकार इति । अर्धमात्रा-

^१ उ. उ. १. उभयात्मको विगट्प्रणवः ।

प्रणवस्य सृष्ट्यादिप्रणववदन्तावयवाभावतो निग्नयवत्वादनन्तावयवस्वरूपमुपपद्यते
 इत्यर्थः । आरोपापवादाधिकरणयोः सगुणनिर्गुणत्वं यन्तुतः निग्रन्तियोगिक-
 निर्गुणत्वं चाह— सगुण इति । सगुणो विराट्प्रणवः सर्वाङ्गोपाधिकरण-
 ब्रह्मप्रतीकत्वात् संहारो निर्गुणप्रणवः स्वानिग्निसर्वापवादाधिकरणब्रह्मान्मन्त्र-
 नत्वात् । किं च उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणविगदस्माद्विशेषात्तः उभया-
 त्मकोऽयं उत्पत्तिप्रणवः सगुणनिर्गुणप्रणवद्वयाधिष्ठितेश्वरस्य स्वाङ्गस्वज्ञद्यष्टिभ्यां
 सविशेषनिर्विशेषस्वरूपत्वेन स्वातिग्निसर्वापवादाधिकरणब्रह्मप्रणवस्वरूपमपि
 प्रणवत्वं युज्यत इत्यर्थः । सप्रतियोगिकनिर्गुणप्रणवं दृष्टान्ताङ्गस्य दृष्टान्तिकत्वात्
 निग्रन्तियोगिकनिर्गुणतदुपाययोऽदशमात्राप्रपञ्चनपूर्वकब्रह्मप्रणवस्वरूपमाह — यथेति ।
 प्लुतप्लुतशब्देन चतुर्थमात्रार्धमात्रोच्यते तदसङ्गचिद्वातुरकारादिमात्रात्रयतदध्यक्ष-
 विश्वविगडोत्राद्यपेक्षया यथा निर्गुणः सप्रतियोगिकनिर्गुणरूपेण । विगजत इति
 विगद । व्यष्टिसमष्टितुयैक्योत्पत्त्यर्थः । तथा प्लुतप्लुतः अर्धमात्रार्धमात्रात्मकः स्वयं
 षोडशसंख्यापूरकाभात्राख्यपग मात्राभेदेन स्थित्वा स्वानिग्निसंख्याकागदिपञ्च-
 दशमात्रान्व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यतदागोपापवादाधिकरणविश्वविश्वद्यविकल्पानुज्ञैक-
 सान्तप्रविभक्ततमआदिगुणसाम्यान्तविशेषजातं संहृत्युपसंहृत्यपङ्कवं करोतीति
 संहारः ॥ २ ॥

विराट्प्रणवस्य षोडशमात्रात्मकत्वम्

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः । षोडश-
 मात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते । अकारः प्रथमः, ह्युकारो द्वितीयः,
 मकारस्तृतीयः, अर्धमात्रः चतुर्थः, त्रिन्दुः पञ्चमी, नादः षष्ठी,
 कला सप्तमी, कलातीताष्टमी, शान्तिर्नवमी, शान्त्यतीता दशमी,
 उन्मन्येकादशी, मनोन्मनी द्वादशी, पुरी त्रयोदशी, मध्यमा
 चतुर्दशी, पश्यन्ती पञ्चदशी, परा षोडशी । पुनश्चतुःषष्टिमात्रः

कल्मषापावादाधिकरणतया निर्गुणत्वं चोपैति । यत एकोऽपि ब्रह्मप्रणवः स्वाङ्गादि-
दृष्ट्या सगुणत्वं निर्गुणत्वं चावाप ॥ ३ ॥

परब्रह्मानुसन्धानम्

सर्वाधारः परं ज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः ।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ ४ ॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः ।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृत्युः सकलोपनिषन्मयः ॥ ५ ॥
भूतभन्वभविष्यद्यत्तिलोकादितमव्ययम् ।
तदप्योङ्कारमेवार्थं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥ ६ ॥
तदेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम् ।
तदेकमजरममृतमनुभूय तथोमिति ॥ ७ ॥
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति ।
त्रिशरीरं स्वमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु ॥ ८ ॥
परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।

अत एवायं सर्वाङ्गोपापवादाधिकरणतया सर्वाधारः जडाधारतया जडत्वं
स्यात् इत्यत आह— परं ज्योतिरिति । स्वस्य जडप्रपञ्चातिरिक्तत्वेनाजडस्व-
रूपत्वात् वस्तुतोऽयमेष सर्वेश्वरः स्वानिरिक्तसर्वाङ्गवसिद्धनिष्प्रतियोगिकब्रह्म
मात्रतयाऽवस्थातुमीश्वरत्वादिति तमात्मानं परमार्थदृष्ट्यः स्वावशेषधिया विदुः
जानन्तीत्यर्थः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तन्मन्त्रग्रामोऽप्यनुवदति— सर्वेत्यादि ।
सर्वदेवमयः सर्वदेवतास्वरूपत्वात् । सर्वप्रपञ्चाङ्गोपाधार ईश्वरो यतो निष्पन्नः
सोऽयं प्रपञ्चाधारगर्भितः ॥ सर्वाक्षरमयः पञ्चाक्षरार्थरूपत्वात् । कालः
कल्पितत्वात् सर्वस्य काल्युत्पत्त्या । सर्वागममयः आगमार्थरूपत्वात् ।

शिवः स्यान्निर्गुणशिवग्रामन्वान् । किं च — सर्वेति । “सर्वं वेदा यत्पदमामनन्ति
तपामि सर्वोणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संप्रहण
ब्रह्मस्योमित्येतन् ” इति श्रुत्यनुगोचरेण सर्वश्रुतिभिर्मोमिति यदुक्तं तद्ब्रह्मप्रणवार्थ-
तुयंतुयन्वमात्रमित्येवायमात्मा मृग्य अन्वेष्टव्यः इतश्चा मृगयितुमशक्यत्वात्
ईशादिसकलोपनिषन्मयः सर्वोपनिषन्मुग्यार्थत्वात् यः कालत्रयावच्छिन्नः तदती-
तोऽपि तमेव मोक्षमायनं विद्वत्त्याह — भूतेति ॥ श्रीनृसिंहोत्तरतापिन्यां “ ओमित्ये-
तदश्वगमिदं सर्वम् ” इत्यादि “ स आत्मा स विज्ञेयः ” इत्यन्तं यथाव्याख्यात-
मत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ अयमात्मा ब्रह्मेत्यंशं विवृणोति — तदेवेति । “ तदेकमजग-
मृतमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिदार्ग्यमागोच्य तन्मयं हि तदेवेति तं वा
एतमात्मानं त्रिदार्गं पदं ब्रह्मानुसंध्यात् ” इति श्रुत्यंशमनुकरोतीत्याह —
तदेकमिति ॥ ४-८ ॥

विश्वार्दीनां चानुविध्यम्

स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्परम् ॥ ९ ॥

ऐक्यत्वात्तानन्दभोगाच्च मोक्ष्यमात्मा चतुर्विधः ।

चतुष्पाज्जागरितम्यानस्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥ १० ॥

एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।

स्थूलभुक्चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान् ॥ ११ ॥

विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।

सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परन्तप ॥ १२ ॥

सूक्ष्मभुक्चतुरात्माथ तैजसो भूतराड्यम् ।

हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १३ ॥

कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन ।

स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥ १४ ॥

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्मुग्धा ।

नित्यानन्दमयोऽप्यान्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥ १३ ॥

तथाप्यानन्दमुक्तेनोमुक्तः सर्वगतोऽव्ययः ।

चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञान्तृतीयः पादमंजितः ॥ १६ ॥

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः मूढमभावनः ।

एयोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥ १७ ॥

भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।

तत्सुषुप्तं हि तत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८ ॥

तत् कथं विश्वादीनां चातुर्विध्यं इत्यत्र—स्थूलत्वादिति ॥ “त्रयमप्येतत् सुषुप्तम्” इति समानश्रुतिः जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्यापि सुषुप्तत्वं सर्वोपरमगाधिकर्णज्ञानबाधकं जाग्रदाद्यवस्थात्रयेऽपि तत्त्वाग्रहणलक्षणस्वापस्य तुल्यत्वादित्यर्थः ॥ स्वप्नं मायामात्रं इत्यत्र जाग्रत्स्वप्नावन्यथाग्रहणलक्षणावित्यर्थः ॥ ९-१८ ॥

तुर्यावस्थायाः चातुर्विध्यम्

चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम् ।

तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥ १९ ॥

ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम् ।

विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम् ।

मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्ययम् ॥ २० ॥

जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्य चातुर्विध्यमुक्त्वा तुर्यावस्थाया अपि चातुर्विध्यमुच्यते—चतुर्थं इति । कथं तुर्यपर्यवसितत्वं इत्यत्र—एकैकत्वानुसारत इति ॥

सर्वत्र तुर्यानुस्यूतिमात्रं किं इत्यत्र—ओनेत्यादि । अत्रापि ओत्रादिक्रयमपि
मुमुक्षुमेव विश्वविश्वाद्यनुज्ञैकमाविकल्पवदन्मावर्णभेदप्रतीत्यवास्तवत्वसाम्यात् ।
तुर्यतुर्यानिर्दिष्टं सर्वं मायामात्रं इति विदित्वाथ वेदनोत्तरक्षणं स्वयमेव सच्चिदेकरसो
ह्यवशिष्यन् इत्यर्थः ॥ १९, २० ॥

तुर्यतुरीयो ब्रह्मप्रणवः

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम् ।

न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न कचिन्मुने ॥ २१ ॥

नैवाप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम् ।

नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥ २२ ॥

तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्य-

यमारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स ब्रह्मप्रणवः

स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योति-

र्ब्रह्माकाशः^१ सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वात् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

युगपत्तुर्यतुर्याथात्म्याङ्गविकल्पिततुर्यतुर्यप्रविभक्तस्थूलाकारादिमात्रापञ्चदश-
पणिन्त्यष्टिसमष्टिकल्पान्वितजगज्जगद्वादितुर्यस्वापावस्थान्तारोपापवदाधिकरण-
विश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकसान्तकैतन्यविभातविशेषजातापह्नवसिद्धनिष्प्रतियोगिक-
तुर्यतुर्यमात्रं प्रपञ्चयति—विभक्त इत्यादिना । “स आत्मा स विज्ञेयः” इत्यन्तं
नृसिंहोत्तरतापिनीविवरणेन व्याख्यातं भवतीति मन्तव्यम् । प्रकृतब्रह्मप्रणवमुपसं-
हृति—स इति । अस्मिन्नुपदेशे यस्तुर्यतुरीयोऽभिहितः स ब्रह्मप्रणवः स एव
स्वमात्रमिति विज्ञेयः तुर्यतुर्यापेक्षया नापरस्तुरीयः तुर्यतुर्याधिगमादर्शनात्
तुर्यतुर्य एव स्वज्ञदृष्ट्या मुमुक्षूणामाधारः तत्प्राप्यत्वात् सर्वप्रकाशकभानुवत्

स्वयंज्योतिः सूर्यादिज्योतिषामपि ज्योतिष्त्वान् । वस्तुनो भास्यभासककल्पापह्नव-
मिद्वनिप्रतियोगिकब्रह्ममात्रतया काशत इति ब्रह्माकाशः । सर्वदा स्वाज्ञादिद्रष्टृमोहं
मन्यसति स्वमात्रतया विराजते । कुतः परंब्रह्मत्वान् । स्वावशेषतया स्थितिर्युज्यत
इत्यर्थः । अष्टमोपदेशमसामान्यर्थोऽयमित्युपनिषच्छब्दः ॥ २१-२३ ॥

इत्यष्टमोपदेशः

ब्रह्मस्वरूपवर्णनम्

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ । तं होवाच
पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति । अन्योऽभावन्योऽहमस्मीति ये
विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुग्धान्प्रमु-
च्यते । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥
तमेकस्मिन् त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गमदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥
पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युप्रक्वत्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्ता पञ्चदुःखौषवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥
सर्वाजीवे सर्वसंस्ये बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिन्निधाय स्वप्रतिष्ठाक्षरं च ।
 अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परं ब्रह्मणि तत्परायणः ॥७॥
 मयुक्तमेतन्भरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भगते विश्वमीशः ।
 अनीशश्चान्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥
 ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता ।
 अनन्तश्चान्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतन् ॥९॥
 क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
 तदभिध्यानाधोजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
 ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
 तन्म्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥
 एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्ममन्म्यं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
 भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतन् ॥
 आत्मविद्यातपोमूलं तद्वह्नोपनिषत्परम् ॥ १३ ॥

पितामहेन ब्रह्मयाथात्म्यमुक्तमपि पुनर्नैमिशारण्यवासिमुनिमण्डलबुद्धि-
 वैशद्यार्थं ब्रह्मस्वरूपं सप्रकारं पृच्छतीत्याह--अथेति । यदि त्वं परोक्षं
 मन्यसे तदा अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति स्वमेदेन ये विदुस्ते पशवः
 स्वस्वामिवद्ब्रह्मानपशव इव स्वाज्ञानदृढपाशबद्धत्वात् ते स्वभावत एव पशवः
 इत्यत आह--न स्वभावपशव इति । तेषां स्वभावस्य निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्र
 त्वात् यः सदा निष्प्रतियोगिकमवशिष्यते तमेवं स्वमात्रमिति ज्ञात्वा विद्वान्
 मृत्युमुत्खान प्रमुच्यते । स विद्वान् वेदनस्तमकालं स्वातिरिक्तास्मिन्त्वमेव मृत्युः
 तन्मुक्तः स्वाज्ञानात् मुच्यते स्वयं ब्रह्मस्वरूपमिति इत्यर्थः । स्वाज्ञानप्र-
 भवस्वातिरिक्तबन्धस्य स्वज्ञानाद्वेदे विनाशो न विद्यत इत्याह--नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनायेति । एवं नाग्देन साकं विधिमुक्तः श्रुतवेदान्ता नैमिशार्ण्यवामिनो
मुनयो मित्रित्वा कालादिसांख्यान्तमतान्युपन्यस्याथ पूर्वपक्षत्वेन निगम्य यत्
परमार्थतत्त्वं तदेव स्वमात्रं नानाऽतिरिक्तमस्तीति ध्यात्वा तन्मात्रमवशिष्यते
इत्याह—काल इति । श्वेताश्वतरमन्त्रोपनिषदि “कालस्वभावः” इत्याख्य
“तद्ब्रह्मोपनिषत् परम्” इत्यन्तं पदञ्चो व्याख्यातमित्यत्रोपगतमिति मन्तव्यम् ।
एवं नैमिशार्ण्यवामिनः परमेश्वरमुक्तः “नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्”
इति स्वातिरिक्तमर्वापह्वसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति विदित्वा वेदन-
ममकालं कृतकृत्याः सन्तः तन्मात्रमवशिष्यन्त इत्यर्थः ॥ १-१३ ॥

शास्त्रवेदनफलम्

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयन् ‘तत्र को मोहः कः
शोकः एकत्वमनुपश्यतः’ । तस्माद्विराड् भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यन-
श्वरस्वरूपम् ॥ १४ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमब्रह्मं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १५ ॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमादुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥
अशरीरं शरीरिष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १७ ॥
सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम् ।
परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्धेदितव्यम् ॥ १८ ॥
कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाऽऽत्मान्मोहगर्भमूषरम् ॥

स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चान्मकं पञ्चसु वर्तमानम् ।

पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतमात्रावेषांस्तम् ।

परान्तरं यन्महतो महान्तं स्वरूपतजोमयशाश्वतं शिवम् ॥२०॥

यः कोऽप्येतच्छब्दं यथावेदो मोऽपि कृतकृत्या भवतीत्याह—य एवमिति । य एवं मौनिपटलवन् गुरुमुखात् ससंन्यासज्ञानैकगम्यं ब्रह्म स्वमात्रमिति विदित्वा तत्तत्स्वरूपमेव स्वान्तेनभेदं पश्यतः तत्र स्वरूपे स्वानिरिक्तमस्ति नान्तीति को मोहः तदपाये कः शोकः ब्रह्ममात्रावगतेः शोकमोहापहवपूर्वकत्वात् । यन्मादेवं स्वानिरिक्तापहवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रतया विराजते तस्मान् विगद । परमात्मैव स्वाज्ञदृष्ट्या यद्वृतादिकालपरिच्छेद्यं तत् स्वज्ञदृष्ट्या स्वरूपमेव भवतीत्याह—भूतं भव्यमिति । वस्तुतः सन्मात्रातिरिक्तमदभावात् “पश्यतेहापि सन्मात्रमसदन्यत्” इति श्रुतेः । एवमात्मानं पश्यतो वीनशोक्तवमात्मनः कर्णग्रामाभावेऽपि कर्णग्रामप्रवृत्तिनिमित्तत्वं चाह—अणोरिति ॥ मन्त्रद्वयमपि श्वेताश्वतरे व्याख्यातम् । कथं पुनः आत्मज्ञानात् शोकात्पयः देहावच्छिन्नात्मनः शोकदर्शनात् इत्यत आह—अशरीरमिति ॥ शोकनिमित्तशरीग्रत्रयवैगल्यात् शरीग्रयापहवसिद्धब्रह्मवेदनोपायमाह—सर्वस्येति । स्वाज्ञदृष्टिविकल्पितस्य सर्वस्य जगतः विष्यवात्मना धातारं पोषकम् । ईश्वरात्मना अचिन्त्या अघटितवदनापटीयसी शक्तिर्यस्य तमचिन्त्यशक्तिं प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वांगमान्तार्थः । “ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति,” “ब्रह्ममात्रमस्ति हि” इति परमसिद्धान्त एव विशेषार्थः । तन्मात्रतया वेद्यं स्वमात्मानं ये जानन्ति तैर्ब्रह्मविद्भिः यत् परादश्वरादपि परं तदेव परमं ब्रह्म सर्वावस ने स्वानिरिक्तसर्वापेक्षे सति स्वमात्रमिति सकृदेव वेदितव्यम् । वेदन्महत्तेरप्युपरमात् यद्येवं वेदितुमशक्तस्तदा कवि इत्यादिविशेषणविशिष्टमीश्वरं वा किमुपास्य तत्प्रसादलब्धब्रह्मज्ञानेन निर्विशेषं ब्रह्मेवेतीत्याह—कविमिति । कवि सर्वज्ञत्वात् । पुराणं चिन्तनत्वात् । आदिमध्यान्तं स्वस्य जन्म-मिच्छाज्यामावात् । शिवान्तात्मावगमात् हरहरविरिञ्चितरवः तेषां प्ररोह-

गिरिवान् ॥ किं च—स्वेनेति । स्वेनान्तर्गम्यादिभावमापन्नेनायं प्रपञ्चो व्याप्त इति वक्तव्ये इदं प्रपञ्चं इति विभक्तिलिङ्गव्यत्ययः । पञ्चात्मकं इत्यादिप्रपञ्च-विशेषणम् । तद्व्याप्त्या तत्संवृतत्वं स्यात् इति ऋद्ध्यायां असंवृतं इति विशेषणं असंवृतत्वे हेतुः । परान् परं इति महद्व्यक्तादेरपि व्यापकत्वेन महत्त्वान् । वस्तुतः शिवं स्वानिगिताशिवापह्वान् । निद्वं ब्रह्मास्मान्यात्मानं जानीयान् इत्यर्थः ॥ १४-२० ॥

ब्रह्मप्राप्तिः तद्धेतुश्च

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाज्ञात्तत्तादृशो वापि प्रज्ञानेननमाप्नुयात् ॥ २१ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं

नोभयतःप्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं

वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः ॥ २२ ॥

एवं ज्ञानी दुश्चरितादिदृष्टिमानपि ब्रह्माप्नुयादित्यत आह—नेति । दुश्चरितादिदृष्टिमतो ज्ञानानुदयात् यदि स्यात् प्रमादतस्तदाभासज्ञानं भवेन्न्या-भासज्ञानं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्भवति । यस्मादेवं तस्मात् दुश्चरितादिदृष्ट्यसंभव-निवृत्तिर्योगिकब्रह्ममात्रप्रज्ञानेन तद्भावापन्नो भवतीत्यर्थः ॥ स्वान्तर्ब्रह्मविबुद्धि-स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चासंभवब्रह्ममात्रज्ञानतो मुक्तो भवतीत्याह—नान्तःप्रज्ञमिति ॥ आवृत्तिरवधारणार्था ॥ २१, २२ ॥

परिव्राजकस्थितिः

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति, भयत्रस्त-सारङ्गवत्तिष्ठति, गमनविरोधं न करोति । स्वशरीरव्यतिरिक्तं

सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसंधानं कुर्वन्मर्वमनन्य-
 बुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । म परित्राट् सर्वक्रियाकारकनिर्वर्त-
 को गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वमंसारं विसृज्य मामोहितः ।
 परित्राट् कथं निर्धनिकः सुखी । धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः
 सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः
 सर्वेश्वरः सोऽहमिति । तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निर्वर्तन्ते
 योगिनः । सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि । न स पुनरावर्तते
 न म पुनरावर्तते । तत्कैवल्यम् । इत्युपनिषत् ॥ २३ ॥

एवं मुक्तिभाजनपरित्राजकस्थितिमाह—स्वस्वरूपज्ञ इति । स्वस्वरूपं
 स्वमात्रमिति जानानानि स्वस्वरूपज्ञः । स्वाज्ञानतत्कार्यं परित्यज्यापह्वं कृत्वा
 स्वभावं व्रजति भर्जनानि परित्राट् । स्वातिरिक्तद्वयाभावात् स्वाज्ञदृष्ट्या
 जनसंवाधेऽपि स्वदृष्ट्या परित्राडेकाकी चरति । स्वाज्ञदृष्ट्या भयत्रस्तसारङ्गवन्
 तिष्ठति इव तिष्ठति । तथा स्वगमनविरोधं न करोतीव । स्वज्ञदृष्ट्या
 शरीराभावेऽपि परागोपितप्रातिभासिकस्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा
 षट्पदवृत्त्या माधूकरास्यपात्रवृत्त्या स्थित्वाहोरात्रं स्वरूपानुसंधानमेव कुर्वन्
 सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति । क्रियाका ऋतैरहितः गुरुशिष्य-
 शास्त्रादिभिर्भागन्धविकलः नित्यानन्दस्वान्ततया न कदापि संसारदुःखमोहितः ।
 परित्राट् कथं पुनः निर्धनिकः सुखी भवति ब्रह्मात्रधनवतो नित्यसुखितोप-
 पद्यते ज्ञानाज्ञानोभयातीतः चिदाभासतया मृग्यत्वेन ज्ञानज्ञानातीतत्वं
 “ज्ञान्तिज्ञानिते चात्माभास्तस्यैव न चात्मनः” इति स्मृतेः । स्वयंज्योतिः
 प्रकाशमात्रत्वात् । यः सर्वापह्वसिद्धब्रह्मात्रतया अवस्थानुमीश्वरो भवति
 सोऽहं सर्वेश्वरः । योगिनो यत्पदं प्राप्याद्यापि न निर्वर्तन्ते तद्विष्णोः
 परित्राजकस्य परमं पदम् । न हि तत्र सूर्यशशाङ्कौ भासेते । यत्पदमपुनरावर्तकं

नदेव हि केवल्यम् । इतिगच्छो नवमोपदेशसमान्यर्थः । उपनिषच्छब्दः नागद-
पगिब्राजकोपनिषत्समान्यर्थः ॥ २३ ॥

इति नवमोपदेशः

श्रीवामुदेवेन्द्रगियोपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
नागर्दायविवरणं लिखितं स्यात् स्फुटं लघु ।
पगिब्राजकोपनिषद्ब्रह्मयोग्यप्रत्ययः सहस्रयुक् ॥

इति श्रीमद्वाङ्मयशतोपनिषद्ब्रह्मविवरणे त्रिकुत्वारिंशत्प्रस्तावक
नारदपरिव्राजकोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम् ॥

निर्वाणोपनिषत्

वाङ्मे मनसि—इति शान्तिः ॥

मुख्यावधूतलक्षणम्

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ परमहंसः
मोऽहम् ॥ २ ॥ परित्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥ ३ ॥ मन्मथ-
क्षेत्रपालाः ॥ ४ ॥ गगनसिद्धान्तः ॥ ५ ॥ अमृतकल्लोलनदी ॥ ६ ॥
अक्षयं निरञ्जनम् ॥ ७ ॥ निःसंशय ऋषिः ॥ ८ ॥ निर्वाणो
देवता ॥ ९ ॥ निष्कुलप्रवृत्तिः ॥ १० ॥ निष्केवलज्ञानम् ॥ ११ ॥
ऊर्ध्वाम्नायः ॥ १२ ॥ निरालम्बपीठः ॥ १३ ॥ संयोगदीक्षा ॥ १४ ॥
वियोगोपदेशः ॥ १५ ॥ दीक्षाद्वन्द्वेऽष्टाष्टकं च ॥ १६ ॥ द्वादशा-
दित्याक्लोकनम् ॥ १७ ॥ विवेकरक्षा ॥ १८ ॥ कल्पैव केलिः ॥ १९ ॥
आनन्दमाला ॥ २० ॥ एकासनगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥ २१ ॥
अकल्पितभिक्षाशी ॥ २२ ॥ हंसाचारः ॥ २३ ॥ सर्वभूतान्तर्वर्ती
हंस इति प्रतिपादनम् ॥ २४ ॥ वैर्यकन्था । उदासीनकौपीनम् ।
विचारदण्डः । ब्रह्माक्लोकयोगपट्टः । श्रियां पादुका । परेष्ठाचरणम् ।

कुण्डलिनीबन्धः । परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः । शिवयोगनिद्रा च
 खेचरीमुद्रा च परमानन्दी ॥ २५ ॥ निर्गुणगुणत्रयम् ॥ २६ ॥
 विवेकलभ्यं मनोवागगोचरम् ॥ २७ ॥ अनित्यं नगद्यज्जनिं
 स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्, तथा देहादिमंघ्रातं मोहगणजालकल्त्रिं
 तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥ २८ ॥ विष्णुविध्यादिशनाभिधानल-
 क्ष्यम् ॥ २९ ॥ अङ्कुशो मार्गः ॥ ३० ॥ शून्यं न संकेतः ॥ ३१ ॥
 परमेश्वरसत्ता ॥ ३२ ॥ सत्यसिद्धयोगो मठः ॥ ३३ ॥ अमरपदं
 न तत्स्वरूपम् ॥ ३४ ॥ आदिब्रह्म स्वमंविन् ॥ ३५ ॥ अजपा
 गायत्रीविकारदण्डो ध्येयः ॥ ३६ ॥ मनोनिरोधिनी कन्था ॥ ३७ ॥
 योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥ ३८ ॥ आनन्दमिक्षाशी ॥ ३९ ॥
 महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः ॥ ४० ॥ एकान्तस्थान-
 मठम् ॥ ४१ ॥ उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥ ४२ ॥ उन्मनी
 गतिः ॥ ४३ ॥ निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् ॥ ४४ ॥ अमृत-
 वञ्छोलान्द्राक्रिया ॥ ४५ ॥ पाण्डुरगगनमहासिद्धान्तः ॥ ४६ ॥
 शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता परावरसंयोगः तारको-
 पदेशः ॥ ४७ ॥ अद्वैतसङ्गलब्धो देवता ॥ ४८ ॥ नियमः स्वान्त-
 रिन्द्रियनिग्रहः ॥ ४९ ॥ ययमो लोकलोचन्यागस्त्यागः ॥ ५० ॥
 परावरैकचरसास्वादनम् ॥ ५१ ॥ अनियामकत्वनिर्भलः शक्तिः ॥ ५२ ॥
 स्वप्रकाशवत्तत्त्वे शिवशक्तिसंप्रुटितप्रपञ्चच्छेदनम्, तथा पत्रा-
 क्षाक्षिकमण्डलभावामावदहनम् ॥ ५३ ॥ बिभ्रत्याकाशाधारम् ॥ ५४ ॥
 शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्, तन्मया शिक्षा ॥ ५५ ॥ चिन्मयं

चोन्मृष्टिरेण्डं संतनोक्षिकमण्डलम् ॥ ९६ ॥ कर्मनिर्मूलनं कथा ।

मायाममनाहङ्कारदहनं श्मशानं ॥ ९७ ॥ अनाहताङ्गी ॥ ९८ ॥

निर्वाणोपनिषद्वेद्यं निर्वाणानन्दतुन्दिलम् ।

त्रैपदानन्दमात्राज्यं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु ऋग्वेदप्रविभक्तयं निर्वाणोपनिषत् पाणिब्राज्यधर्मपूगप्रकटनपूर्वकं परमार्थनत्त्वप्रकाशिका विजृम्भते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमागम्यते । इयं श्रुतिः उत्तमाधिकाणिः परिव्राजकानुपलभ्य स्वनाम्नोपनिषदमुपदिशति—अथेत्यादिना । अथगच्छः आश्रमत्रयानन्तर्यार्थः । विदेहकैवल्यमेव निर्वाणं तद्वाधिर्नामुपनिषदं विद्यां श्रुत्यो वयं व्याख्यास्यामः विवरणं कुर्मः इत्यर्थः ॥ वक्ष्यमाणविद्याप्रतिपाद्यं किं इत्यत आह—परमहंसः सोऽहमिति । स्वातिगिक्ता-पहवसिद्धः परमः परमात्मा चासौ पुनः स्वाज्ञविकल्पितस्वातिगिक्तभ्रमं हन्तीति हंसश्चेति प्रमत्तप्रत्यगभिन्नपरमात्मा योऽयं प्रकटितः सोऽहमिति सम्यग्ज्ञानसिद्धं प्रत्यगाद्याव्यासहं निःप्रतियोगिकब्रह्ममात्रं प्रतिपाद्यमित्यर्थः ॥ के अत्राधिकाणिः इत्यत्राह—परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गा इति । बाह्यसंसारं परित्यज्य दण्डादि-धारणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गमवलम्ब्य परितो ब्रजन्तीति परिव्राजकाश्च ते पश्चिममन्तःसंन्यासलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गिनश्चेति स्वब्राह्मन्तर्विलसितविक्षेपप्राप्त-व्यक्तव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः । “सर्वं एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ता-व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम्” इति श्रुतेः ॥ तेषामेवं विष्णुलिङ्गसत्त्वेऽपि विष्णुत्वं कुतः इति तत्राह—मन्मथक्षेत्रपाला इति । मदित्यस्मत्प्रत्ययालम्बनप्रत्यगादि-विभागसहब्रह्ममात्रज्ञानविजृम्भितसर्वशास्त्रमयनाविर्भूतमाविद्यकं पदं मन्मथक्षेत्रम् अनन्तकोटिब्रह्माण्डबीजप्ररोहभूमिवात् क्षेत्रत्वं युज्यते । तत्स्वातिरिक्तं नास्तीत्य-पोह्य महमेवेदं सर्वं इति स्वात्ममात्रधिया पाळनाद्विष्णुत्वं निरङ्कुशमित्यर्थः ॥ विष्णोः साकल्यप्रसिद्धेः तद्वापत्या तेषां सिद्धान्तोऽपि तथेत्यत आह—गगनाक्षिपन् इति । विष्णोः साकल्यं स्वाज्ञानस्तापेक्षं तदपाये “स एषोऽक्षिपन्तः” इति श्रुतिसिद्धान्तव्यक्तविष्णुमावास्तवनां गगनवन्निखयं

निष्कलब्रह्मगोचरोऽयं मिद्वान्तः इत्यर्थः ॥ तथापि पाग्निब्राह्म्योपाधियोगतः
 कथं तदन्तःकरणं निष्कलगोचरं भवतीत्यत आह—अमृतकण्डोलनदीति ।
 निष्कलब्रह्मभावापन्नान्तःकरणं स्वमात्रभावाभ्युत्पन्नं द्व्यद्विज्ञानदीवचिदेकस्मिन्गोचरं
 तदन्तःकरणमित्यर्थः ॥ तेषां श्रियिषवादिगुणकान्तःकरणयोगतः तत्त्ववृत्तयामपि
 तथैव आह—अक्षयं निरञ्जनमिति । कामादिवृत्तिमदन्तःकरणं श्रियिषवञ्जनार्हं
 च भवेत् परिब्राजकान्तःकरणस्य तद्वर्गान्त्येन निर्विकल्पब्रह्ममात्रपर्यवसन्नत्वात्
 तद्रूपमक्षयं सर्वत्र निरञ्जनं चेत्यर्थः ॥ तेषामेवं बोधप्रदाना कीदृशः
 इत्यत आह—निःसंशय ऋषिरिति । श्रुत्याचार्यप्रसादमहिम्ना निःसंशयं
 यथा भवति तथा निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रभावमृषयवगच्छति श्रुत्यान् प्राहयति
 वेति निःसंशय ऋषिराचार्य इत्यर्थः । “सर्वेश्वरगन्धर्वचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुः”
 इति श्रुतेः । तथाविधदेशिकानुशिष्टपरिव्राट्पटलमेव्यदेवता केत्यत आह—
 निर्वाणो देवतेति । निर्वाणमिति वक्तव्ये निर्वाण इति लिङ्गव्यत्ययः ।
 ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणनिर्वाणं केवल्यं तद्रूपतया देदीप्यमाना वामुदेवर्षिणा
 देवतेत्यर्थः ।

“सर्वभूताधिवासं यद्वृत्तेषु च वसत्यपि ।

सर्वानुप्राहकत्वेन तदस्म्यहं वामुदेवः ॥”

इति श्रुतेः ॥ एवं निर्वाणदेवताभावमापन्नानामपि स्वकुलानुरूपा प्रवृत्तिः
 स्यादित्यत आह—निष्कुलप्रवृत्तिरिति । स्वानिर्गुलकुलोत्पत्त्यादेः मायिकत्वेन
 कारणतुल्यत्वात् न हि ब्रह्ममात्रज्ञानसमकालं स्वान्यकुलानुरूपा प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा
 अस्तीत्यत्र—“उत्पन्नतत्त्वबोधस्य यथापूर्वं न संसृतिः” इति भगवत्पादोक्तेः ।
 प्रवृत्तिस्तमान्याभावे देहधारणा कथमिति चेन्न । स्वदृष्ट्या देहतद्धारणाविभ्रम-
 वेत्यात् । यदि प्रातिभासिकदृष्ट्या स्मरेत्तदा देहधारणामात्रप्रवृत्तिनिवृत्त्योरपि
 तथात्वात् । न हि प्रातिभासिकदृष्ट्या कार्यकारी भवति । “प्रतिभासत एवेदं न
 ज्ञात् परमार्थतः” इति श्रुतेः ॥ किं तादृशज्ञानं केवलशास्त्रजन्यं नेत्याह—
 निष्केवलज्ञानमिति । शास्त्रीयज्ञानस्य स्वातिगिक्तसत्ताबाधकत्वेऽपि कार्यकारी
 प्रवृत्तेरबाधकत्वात् नेदं शास्त्रज्ञं भवितुमर्हति किं तु तदुपेतत्त्वज्ञानमेवेत्यर्थः ।

एवं ज्ञानिभिः पटनपाटनादिकं न कार्यं ततो ब्रह्मविद्यामंप्रदायविच्छेदः स्यादित्यत आह—ऊर्ध्वास्त्राय इति । तैः कर्तव्याकर्तव्यतया न किंचिदपि कार्यान्तरं विद्यते यदि प्राण्यदृष्टतः स्यात् तदा अधोभावंगतकर्मोपायनाकाण्डद्वयगोचरास्त्रायजातपटनपाटनाभावेऽपि ऊर्ध्वं ब्रह्म यत्र उपनिषत्कदम्बे आस्त्रायते सोऽयं ऊर्ध्वास्त्रायः ईशाद्यष्टोत्तशतोपनिषत्पुगः गुरुतः स्वयं वा पठच्छिष्यान् वा पाठयेत् । एवं कृते ब्रह्मविद्यामंप्रदायविच्छेदोऽपि स्यादिति यत् तत् महज्ज्ञं इत्यत्र—

“ सर्वेषु वेदेषूपनिषदमावर्तयेत् । ”

“ मतोपनिषदं विद्याभ्यसेन्मुक्तिहेतुकीम् ।

कायः कर्मेण कर्माणि वृथा वागुच्यतामिह ।

तारं जपतु वाक् तद्वत् पठन्नास्त्रायमस्तकम् ॥ ”

“ विष्णुं ध्यायति धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दं विर्लयाताम् ।

माक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ”

इत्यादिश्रुतेः ॥ एवं ब्रह्मविद्यामंप्रदायप्रवर्तकानामवस्थानं मालम्ब्य स्यादित्यत आह—निरालम्बपीठ इति । स्वानिर्गितालम्बनशून्यब्रह्ममात्रतया पीठ आसनं स्थितिर्गति यावत् । “ निर्विशेषज्ञानिनः स्यात् स्वे महिम्नि सदा स्थितिः ” इति स्मृतेः ॥ तेषां क्वाभिनिवेशः इत्यत्र—संयोगदीक्षेति । सच्छिष्यपटल-ब्रह्ममात्रज्ञानयोगवितरणे दीक्षा अभिनिवेश इवेत्यर्थः । एवमभिनिवेशामासोऽपि शिष्यादृष्टनिमित्तो न स्वत इति भावः ॥ तदुपदेशः कीदृशः इत्यत्र—वेद्योगोपदेः इति । प्रसक्तस्वातिरिक्तास्तिनत्वभ्रमवियोगः न हि निग्रन्तियोगि-कत्वमात्रे स्वातिरिक्तमस्ति नास्तीति विभ्रमावकाशोऽस्तीत्युपदेशः “ अनन्यप्रोक्ते गतित्र नास्ति ” इति श्रुतेः ॥ एवं शिष्योपदेशत्रयप्रतया दुःखादिकं स्यादित्यत आह—दीक्षासन्तोषपावनं चेति । कुत्राप्यनभिनिवेशतः स्वाभिनिवेशामासोऽपि शिष्यपटलसन्तोषकः पावनकारश्चेत्यर्थः ॥ तद्दर्शनमपि तथेत्याह—द्वादशादि-त्वाबलोकनमिति । पावनहेतुद्वारादेव्यालोच्यते तद्वत् ब्रह्मवित्परिब्राजकाव-लोकनमपि तथेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः ।

“ ग्वचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्वृष्टिगोचराः ।

सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैर्धैः ॥ ” इति ॥

निर्गमिमानिनां रक्षा का इत्यत्राह—विवेकरक्षेति । ब्रह्ममात्रविवेको ज्ञानमेव रक्षा ।

“ श्रुत्याचार्यप्रमादात्तत्त्वज्ञानास्तस्मिंशयम् ।

ब्रह्मविष्णवादिविबुधाः पालयन्ति यज्ञां कुलम् ॥ ”

इति स्मृतं ॥ तत्केलिः कुत्रेति तत्राह—करुणैव केलिरिति । स्वाज्ञपट्टं स्वपद प्रापर्गायमिति या करुणोदेति सैव केलिः ॥ तन्माला का इत्यत्र आह—
आनन्दमालेति । स्वानन्दालङ्कृतत्वात् ॥ तद्गोष्ठी केति तत्राह—एकासन-
गुहायामिति । सर्वत्रैकमेव आसनमवस्थानमटनं चलनं वा येषां ते एकामनाः ।
तेषां विहरणभूमिः गुहा तस्यां मुक्तः पण्यक्तः मिद्धामनादिपणिग्रहण्यमो
यस्मिन् मुक्तामनाः तैः स्वरूपमुखं यल्लभ्यन्ते तदेव गोष्ठी न हि जनसंवाच्यर्था ॥
तदर्थं किं परं भिक्षा कल्पनीयेति तत्राह—अकल्पितभिक्षाशीति । स्वार्थं
गृहिणः पक्त्वा भुक्त्वा स्वस्थास्तिष्ठन्ति ग्रामैकगत्रादिनियमनां गोदोहनमात्रकाला-
काङ्क्षिषु भिक्षुषु भिक्षार्थमागतेषु पुनस्तदर्थं पाकानवसगन् भुक्तशेषमेव
दास्यन्तीति स्वार्थमविकल्पितां भिक्षामभ्यर्तान्यविकल्पितभिक्षाशीति । तथा च
स्मृतिः—

“ ग्रामैकगत्रमटनं प्रवेशं चापगच्छके ।

गोदोहमात्रमाकाङ्क्षन्निष्क्रान्तो न पुनर्ब्रजेत् ॥ ”

इत्यादि ॥ तदाचारः कीदृशः इत्यत्र—हंसाचार इति । हंसशब्देन तत्त्वपदार्था-
बुद्ध्यन्ते तद्वद्भयैक्यानुसंधानमाचारः शीलमित्यर्थः ॥ ते जिन्येषु किं प्रति-
पादयन्ति इत्यत्र—सर्वभूतान्तर्वर्तीति । स्व ब्रह्मविस्तृतसर्वभूतेषु स्वब्रह्मवस्तु-
वर्ती हंसः प्रत्यगभिन्नपरमात्मा परमार्थदृष्ट्या सर्वापह्वस्मिद्धं ब्रह्म निरग्रनि-
योगिकस्वमात्रमिति प्रतिपादनं कुर्वन्ति ॥ तेषां कन्याकौपीनदण्डयोगपट्टपादुका-
चरणबन्धमोक्षन्निद्रामुद्राः कीदृशाः इत्यत्र आह—वैबेयादिना । ब्रह्मातिरिक्तं

न किञ्चिदस्तीति मनोधैर्यमेव कथ्या । स्वानिर्गिक्तोदासीनधीव कौपीनम् ।
 सर्ववेदान्तार्थविचारो दण्डः । प्रत्यग्भेदेन ब्रह्मावलोकनमेव योगपट्टः ।
 स्वानिर्गिक्तवाक्यसंपच्छिन्नच्यते तदस्पर्शनाय तस्यां पादुका । परेच्छयैव
 देहभ्रमणमात्रचेष्टाचरणम् । तथा च श्रुतिः—“परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं
 कुर्यान् परेच्छया” इति । मुमुक्षायां कुण्डलिनीप्रवेगो भावितव्य इति मङ्कल्प
 एव बन्धः स्वानिर्गिकेण नाडीकुण्डलिनांचिन्तायाः ब्रह्मावर्णहंतुतया बन्धत्वं
 युज्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—

“नाडीपुञ्जं मदासारं नमस्त्वं महामुने ।
 विमुच्यैवात्मनात्मानमहमित्यवधारय ॥”

इति । स्वानिर्गिकात् परः परमात्मा स्वानिर्गिकास्तित्वविभ्रम एव परापवादः
 परमात्मावर्णं तस्माज्जावन्नपि यो मुच्यते स जीवन्मुक्तो भवेत् । तथा च
 स्मृतिः—

“स्वानिर्गिकाम्निताभ्रान्तिः स्वमात्राहृतिर्निर्गिता ।
 स्वमात्रज्ञानवद्भेदेन तान् छित्त्वा विचरेद्यतिः” ॥ इति ॥

दिग्भामेदेनावस्थानं शिवयोगः स एव निद्रा निर्विकल्पकसमाधिर्नित्यः ।
 चक्षुर्जनः पुनर्व्युत्थानाभावो द्योत्यते खे चिदाकाशे स्वाज्ञादृष्ट्या स्वाविद्यापद-
 कल्पनायाश्चरितत्वात् खेचर्ग स्वाविद्यापादः तत्स्वातिरेकेणास्तीति धीः
 मुच्छब्देनोच्यते सर्वापह्नवमिदं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रधिया खेचर्गमुदं
 द्रावयतीति खेचरीमुद्रा तत्त्वज्ञानम् । चक्षुर्द्रात् वाद्यखेचरीमुद्रापि गृह्यते ॥
 मुद्रावक्तव्या दुःस्वरूपता स्यादित्यत आह—परमानन्दीति । परमानन्दीति
 लिङ्गव्ययः । परमानन्दिना खेचरीमुद्रेत्यर्थः । भजतामानन्दातिहेतुत्वात्
 तथाविधानन्दब्रह्म ॥ किं स्मृणं तत्राह—नेर्गुण्युत्पत्त्यपि ॥ ब्रह्मात्रसिद्धेः
 गुणत्रयतत्कार्यापह्नवपूर्वकत्वात् निष्प्रतियोगिकनिर्गुणं ब्रह्म केन लभ्यमित्यत
 आह—विवेकलभ्यमिति । ब्रह्मातिरिक्तं नेति तत्त्वज्ञानं विवेकस्तेनैव लभ्य-
 मित्यर्थः । “नान्यः पन्था क्यन्ताय विद्यते” इति श्रुतेः ॥ लभ्यमित्युक्तिः

तत् किं मानिनायं तत्राह—मनोवागगोचरमिति । यत् स्वावशेषतया न्यूनं
नत्करणप्राप्तापह्वमिदं निगनिनायमित्यर्थः । ब्रह्मणः कर्णप्राप्तागोचरत्वेन
ब्रह्मभावप्रसक्तौ स्वाज्ञानभूतिनिन्दकार्यप्रपञ्चस्य कारणमापेक्षन्त्यान् हि ब्रह्म विना
तथाविद्यकाणं किञ्चिदस्ति ॥ अतो जगत्कारणत्वहेतुना ब्रह्मणो नियन्त्रि-
योगिकभावत्वात्पत्वं सदृष्टान्तमाह—अनित्यमित्यादिना । यतो जगज्जबितं
तद्ब्रह्म नित्यमित्यवगन्तव्यम् ॥ जगतो नित्यब्रह्मजत्वेन नित्यत्वं स्यादित्यत
आह—अनित्यमिति ॥ किमिवानित्यमित्यत्र—स्वप्नेति । स्वप्नोपलब्धता-
वस्थात्रयनत्कार्यान्मकं जगत् अभ्यपगिदृश्यमानमोहगजादिमिथ्यावस्तुतुल्यं तथा
समधिदेहादिसंघातं तन्मोहगणजालकलितं जगत् रज्जुसर्पवत् कल्पितम् ॥
नत्कल्पनाधिष्ठानं किं विष्णुवादि तत्राह—विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्य-
मिति । विष्णुवादिशब्दवाच्यविष्णुवादयस्तद्वृद्धयं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ विष्णुवादिमार्ग-
प्रापकहेतुः कः इत्यत्र—अङ्कुशो मार्ग इति । यथा रजःस्वामिनोऽङ्कुशः
स्वेभिस्तदेवगमनहेतुः तथाचिगदिमार्गो विष्णुवादिप्रापकहेतुर्गम्यर्थः ॥ किं
अचिगदि विष्णुवादिर्व्यतिरिक्ततया शून्यमित्यत्राह—शून्यं न संकेत इति ।
अचिगदेः विष्णुवाद्यव्यतिक्रान्त्वा न शून्यत्वं तद्वृत्तत्वेन सत्यमित्यर्थः । तथाच
सृष्टिः—

“स्वांगोपिताखिलाण्डालं स्वाभेदश्रुतिमानतः ।

प्राप्यप्रापकभेदेऽपि सर्वं विष्णुवात्मकं जगत् ॥” इति ॥

तथा चेद्विष्णुगिन्याग्या किं न स्यादित्यत्र तस्य विष्णुत्वेऽपि मार्ग इति
व्यवहारतो व्यावहारिकोऽयं संकेतः व्यावहारिकदृष्ट्या वा भूवैकुण्ठयोर-
धोर्ध्वपातित्वं मार्गस्य निगलम्बान्तर्गक्षपातित्वं च प्रमिदम् ॥ तत्र गन्तु-
पटलगमनयोग्यतासंपादकशक्तिः का इत्यत आह—परमेश्वरसत्तेति । परेषां
जीवानां ईश्वरो विष्णुः तत्सत्तासामर्थ्यं गन्तुनिरालम्बमार्गगमनशक्तिप्रदतया
पट्वीत्यर्थः ॥ साङ्कुशाचिगद्युक्त्वा ब्रह्मात्रप्रापकोपायमाह—सत्यसिद्धयोगो
मठ इति । “सन्मात्रमसदन्यत्” इति श्रुतिसिद्धसन्मात्रोऽहमिति भावनैव
योगः तद्योगविश्रान्तिस्थानं विदेहकैवल्यमेव मठः तदेव निर्विशेषब्रह्मप्रापक-

मार्गं इत्यर्थः ॥ किं तन्मार्गद्वयप्राप्यममरपदम् । तत्राह—अमरपदं न तत्स्वरूपमिति । न हि मार्गद्वयगम्यममरपदं स्वर्गो भवितुमर्हतीत्यर्थः ॥ तथा चेत्तत् किं इत्यत आह—आदिब्रह्म स्वसंविदिति । सर्वोदित्वादादिकारणं ब्रह्म कार्यसापेक्षकारणतायि नान्मन्ति या मंत्रिदृष्टेति मैवादिब्रह्म । स्वसंविन् स्वमात्रज्ञानम्वरूपमित्यर्थः । ‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ इति श्रुतेः ॥ मुमुक्षुभिः केन रूपेणात्मा ध्येयः इत्यत्राह—अजपागायत्रीविकारदण्डो ध्येय इति । मूढाधारप्रभवोच्छ्रामनिःश्वासान्मिकः हंसस्मोऽहमिति भावनामयी अजपेत्युच्यते । गायन्तीं त्रायत इति गायत्री । स्वाविद्याद्वयतुर्यांशरूपा स्वाविद्याद्वयस्थूलादिचतुरंगोऽयि तद्विकारेः तन्मयांभूवमिद्वयगमानैवाजपागायत्रीविकारदण्डः पवित्रार्जकः निग्रनियोगिकस्वमात्रतया ध्येय इत्यर्थः ॥ एवं ध्यातुः परमहंसपटुस्थ्य जीतादिद्वन्द्वत्राणनकरकन्था का इत्यत आह—मनोनिरोधिनीकन्थेति । मनः स्वाविद्यातत्कार्यं तन्निरोधिनी ब्रह्मविद्या संव कन्था विद्यायाः स्वाविद्याविकल्पितजीतादिग्रामन्वात् ॥ विद्यया किं दर्शनीयं इत्यत आह—योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनमिति । प्रत्यक्प्रवृत्तौ रैक्यं योगः । तेन संज्ञातसदानन्दस्वरूपदर्शनं विद्यानिष्पन्नमित्यर्थः ॥ एवं दर्शनसंपन्नः किमश्नातीत्यत आह—आनन्दभिक्षाशीति ॥ निर्विकल्पकावस्थायां स्वानन्दानिगितश्राम्यभिक्षासंभवात् तन्निवासभूमिः केत्यत आह—महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वास इति । महाश्मशाने काश्यां तत्राप्यानन्दवने ब्रह्मनालादिप्रदेशं वासो वमतिः कर्तव्येत्यर्थः । यद्वा—महदादिपञ्चभूतभौतिकजातभस्मीकरणहेतुत्वान्महाश्मशानं प्रत्यक्चेतन्यम् । गाढभूमानन्दः आनन्दवनम् । तस्मिन् महाश्मशानेऽप्यानन्दवने प्रत्यगभिन्ने परमात्मनि स्वे महिम्नि स्वावशेषतया वासो वमतिर्भवेदित्यर्थः ॥ तत्सदनं कुत्रेति तत्राह—एकान्तस्थानमठमिति । स्वेतगजनसंवाधगूयमेकान्तस्थानं तदेव मठं सदनमित्यर्थः ॥ तस्य चेष्टा का इत्यत आह—उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टेति । समाहितदशायामुन्मनी निर्विकल्पकावस्था ततो व्युत्थानदशायां सर्ववेदान्तार्थप्रकाशिनी शारदा ब्रह्मविद्या चेष्टेत्यर्थः ॥ तद्गतिः कुत्र इत्यत्राह—

उन्मनीगतिरिति । पदे पदे निर्विकल्पकज्ञप्तायामुन्मन्यां गतिर्वायन्तम् ।
तत्पीठं किं इत्यत्राह—निर्मलगार्त्रं निरालम्बपीठमिति । उन्मन्यवस्थामुद्भू-
यतेः निर्मलगार्त्रं निर्विशेषज्ञानं ब्रह्मात्रगोचरत्वं निरालम्बत्वं तत्र पाठमा-
मनमित्यर्थः ॥ तत्क्रिया काण्डर्षी इत्यत्र—अमृतकलोलानन्दक्रियेति ।
अमृतकलोलवदानन्दमाग इव महागर्भागतैव क्रिया परमार्थतोः निष्क्रि-
यत्वात् ॥ तन्मिद्वान्तः कः इत्यत्र—पाण्डुरगगनमहासिद्धान्त इति ।
पाण्डुरशब्देन चिदुत्थने । सैव गगनं चिदाकाशम् । तत् स्वमात्रमिति निश्चये
महासिद्धान्तः ॥ एवं सिद्धान्तोपदेशः स्वागज्यप्रापक इत्याह—शमदमादीति ;
यथोक्ताधिकारि गित्योद्देशेन देविकोपदिष्टो मनुः प्रणवादिः तस्य स्वाति-
गिन्तास्ति त्वभ्रमतः संतागणान् नागकन्वम् । एवं नागकोपदेशः गित्याणां
शमादिमाधनसंपत्तिपुरस्सरं प्रत्यक्परचिदेक्यद्वेतुः । तद्यथा स्वान्तर्गिन्द्रिय-
निग्रहः शमः । बाह्येन्द्रियनिग्रहो दमः । आदिशब्देन उपगत्यादिमाधनज्ञानं
गृह्यते । एवं माधनज्ञानस्यामुगमपदप्राप्तदेव्यामप्यप्रापकत्वात् दिव्यशक्तित्वं
तदाचरणं तदनुष्ठानम् । तन्निर्वैत्यशरीरं क्षेत्रं सर्वमाधनप्रगोहभूमित्वात् । तत्र
शब्दादिविषयमदिगपातारं जीवं तन्मदिग्वामनानां विमुर्खाकृत्य पालनान्
त्राणनान् पात्रं अन्तःकरणं तयोः क्षेत्रपात्रयोः श्रवणादिमाधनानुष्ठानकरणमामर्थ्यं
पदुता तद्धेतुः आचार्योपदिष्टनागक इत्यर्थः ॥ नागकप्रतिपाद्यदेवता का
इत्यत्राह—अद्वैतसदानन्दो देवतेति । गित्याचार्यत्रप्लुजपादिकलनाप्राप्तमद्वैतं
ब्रह्म तत्स्वरूपभूतो योऽयं आनन्दः तस्य देदीप्यमानरूपत्वात् देवतेति मञ्जा न हि
सातिशया देवतास्तीत्यर्थः ॥ तदाम्युप्रायनियमः कः इत्यत्र—नियमः स्वान्तरि-
न्द्रियनिग्रह इति । स्वस्यान्तरिन्द्रियमन्तःकरणम् । तद्यथा कामादिवृत्त्या-
कारेण न परिणम्यते तथा 'ब्रह्माहम्' 'अहमेव ब्रह्म' इति निग्रहो ब्रह्माकार
परिणतिः, सैव नियमः । तथा च स्पृतिः—

“विषयेभ्यः परावृत्त्य करणप्राप्तमञ्जमा ।

ब्रह्माकारेण युज्यस्व तद्धिते नियमो भवेत्” ॥ इति ॥

एवं नियमवत्ता यत्कथं किं इत्यत्राह—भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्याग इति । जीवेशभिदा समुद्भूतं भयं देहादावान्मबुद्धिर्मोहः स्वाभिलषितवस्त्वपाय-
जः शोकः कामाद्वृणसंज्ञातः क्रोधः तेषां त्यागः संन्यास एव त्यागः
तेनैव ज्ञानवर्गिण्यन्ति सर्वं यत्कथमित्यर्थः ॥ एवं त्यागतः किं स्यात् इत्यत
आह—परावरैक्यरसास्वादनमिति । अतत्यागतो जीवेश्वरैक्यरसास्वादनं
भवंदित्यर्थः ॥ एवं रसास्वादनतः किं भवेत् इत्यत आह—अनियामकत्व-
निर्मलशक्तिरिति । ईश्वरेण स्वस्वकार्यं नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम् ।
तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः । तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं
सर्वमाक्षित्वम् । तस्य नियम्यनियामकभिदा ग्रासत्वान् तदेव निर्मलशक्तिः
सर्वावभासकत्वसामर्थ्यमित्यर्थः ॥ एवं शक्तितः किं भवेत् इत्यत आह—
स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्व इति । स्वाविद्याद्वयतत्कार्यापह्नवसिद्धे स्वप्रकाशमात्रे
ब्रह्मतत्त्वे तदङ्गैः शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चः समारोपितः । तत्रत्यमच्चित्सुखं
शिवांशः नामरूपे सच्चित्सुखावृत्ती शक्त्यंशः तयोश्चिदचितोस्तेजस्तिमिरवत्
परस्परविरुद्धयोः योगो मायया संपुटितः यो घटपटादिप्रपञ्चः तस्योच्छेदनं
“अहं ब्रह्मास्मि” इति ज्ञानासिना यथा भवेत् तथा ब्रह्मसम्यग्ज्ञानाग्निना
पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनं भवेदित्यर्थः । स्वकार्यजातं परितः
आवृत्य त्रायते गोपयतीति जीवेशभ्रान्तिजतादात्म्यास्पदं व्यष्टिसमष्टिकारण-
शरीरं पत्रमित्युच्यते । तत्कार्यं विशयवयवशोभिजीवेशसहजतादात्म्यास्पदं
व्यष्टिसमष्टिलिङ्गशरीरमक्षमित्युच्यते । तत्कार्यतया जीवेशकर्मजतादात्म्यास्पदं
व्यष्टिसमष्टिपिण्डब्रह्माण्डाख्यस्थूलशरीरमक्षीत्युच्यते । एवं पत्राक्षाक्ष्यभिध-
शरीरत्रयं येषां ते पत्राक्षाक्षिकाः प्राङ्गतैजसविश्वामित्रेश्वरसूत्रविगजः । तेषां
मण्डलं पटलं स्वदृष्ट्वा । एतत्सर्वं साक्ष्यजातं साक्षिभास्यं साक्ष्यसापेक्ष-
साक्षिताया अपि दहनं विलापनं भवेदित्यर्थः ॥ ततो ब्रह्म किं रूपं विभ-
र्तीत्यत आह—विभ्रत्याकाशाधारमिति । स्वाधेयाकाशादिपञ्चमहाभूततत्कार्या-
धारत्वेन आधेयसापेक्षाधारतापह्नवसिद्धिनिष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रतया यदवशिष्यते
स्वाज्ञादिदृष्टिमोहे सत्यसति तदेकरूपं परमार्थदृष्ट्वा विभ्रति । य एवंवित्
सोऽयं ब्रह्मणो ब्रह्मविद्वरीयान् मुख्यावधूतो भवतीति भावः ॥ शिखायज्ञोप-

वीतविरलानां कथं ब्राह्मणता इत्यत आह— शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतं तन्मया
शिखंति । स्वातिरिक्ताशिवप्राप्तं शिवं तुरीयं तुरंगयातीतं वा ब्रह्मैव
यज्ञोपवीतं शिखा च शिवमया शिवमर्यादयर्थः । तथा च श्रुतिः—

“ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ ” इति ॥

इत्थंभूतब्राह्मणदृग्गोचरं जगदपि चिन्मयं इत्याह—चिन्मयमिति ।
उत्सृष्टिः पर्वतवृक्षलतागुञ्जादिसमष्टिः । तज्जातिरण्डं स्थावरम् । सम्यक्त्वनः
सन्ततः विविधरूपत्वात् अक्षी स्थूलशरीरादिर्येषां ते सन्ततोक्षिकाः
जीवाः जङ्गमात्मकाः । तेषां मण्डलं पटलं चिन्मयमेव भवेदित्यर्थः ।
“ जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ” इति श्रुतेः ।

“ यथा मृत्पिण्डसंभूतो घटादिः क्लिप्तमृन्मयः ।

तथा स्थिरचरं विश्वं चिन्मयं क्लिप्तमुद्भवात् ॥ ”

इति स्मृतेश्च ॥ तद्दृष्ट्वा विश्वं चिन्मयमस्तु तस्यापि शरीरत्रययोगतः
सांसारिकी प्रवृत्तिः स्यात् इत्यत आह—कर्मनिर्मूलनमिति । स्वाविद्या
द्वयतत्कार्यशिवभूगदहनयामये श्मशाने प्रत्यगाभिन्नब्रह्मणि मुख्यावधूतत्वप्राप्तिहेतु-
तत्त्वज्ञानसूर्योदयसमकालं स्वाविद्याद्वयतत्कार्यकर्मत्रयतत्कार्यशरीरत्रयतज्जाहंकारः
ममकारतन्निर्वर्त्यसंसारध्वान्तस्य दहनमपह्वंगत्वात् न पुनः तस्य संसारप्रवृत्ति-
निवृत्तिध्वान्तोऽस्ति नास्तीति का कथा किमाश्चर्यं इत्यर्थः । तथाप्यादेहपान्तं
संसारानुवृत्तिः स्यादिति चेन्न तस्य परदृष्टिनिमित्ततया किञ्चित्करत्वात् ।
देहधारणमात्रसंसारो वा स्यादिति चेन्न देहधारणध्वान्तस्य देहादा-
वात्मात्मीयाभिमानाभावात् असंसारत्वात् ।

“ देहश्चिं तिष्ठतु वा तत्काले लयमेतु वा ।

स्वज्ञानकालमुक्तस्य पुनःसंसारिता कथम् ॥ ”

इति स्मृतेः ॥ परमार्थदृष्ट्वा देहत्रयामावे स कथं तिष्ठेत् इत्यत आह—
अनाह्वाद्वाप्नोति । निष्प्रतिषेधिकब्रह्मज्ञानेन आसमन्ताद्भूतमाह्वं अविद्या-

पदतत्कार्यजातं अपह्ववरूपं तस्याप्यपह्ववमिदं अनाहताङ्गं तद्रूपेण स्थितत्वात्
अयमनाहताङ्गी । ब्रह्ममात्रज्ञानमकालमेव स्वशरीरत्रयमस्ति नास्तीति विभ्र-
मन्यापह्वंगतत्वात् मुख्यवधूतो विदेहमुक्तो विचरदित्यर्थः ॥ १-९८ ॥

गौणावधूतः, तत्त्वार्थः, तत्फलं च

निष्कृष्टगुण्येन्द्रियानुधानं समयं भ्रान्तिहननम्^१ । कामादि-
वृत्तिदहनम् । काठिन्यदृढकौपीनम् । चिराजिनवामः । अनाहत-
मन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम् । स्वच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥ ९९ ॥

मुख्यावधूतलक्षणमेवमुक्त्वा गौणावधूतं तत्त्वार्थं तत्फलं च व्यक्तीकरोति
— निष्कृष्टगुण्येन्द्रियादिना । सत्त्वादिगुणानां समाहारत्वेगुण्यम् । स्वाविद्यापदत-
त्कार्यजातं तदपवादाधिकरणं निष्कृष्टगुण्यं ‘ब्रह्माहम्’, ‘अहं ब्रह्म’, इति भावन-
मनुसंधानम् । तदपि समयं सभायमित्यर्थः । एवमनुसंधानस्य विद्यावृत्तित्वेन
ब्रह्ममात्रावृत्तिरूपत्वात् भ्रान्तित्वं तद्धननं नाशनं कुर्यादित्यर्थः । तथा
कामसंकल्पादिवृत्तिदहनं विलापनं च । द्विविधब्रह्मचर्यहेतुमूढकार्पास-
कौपीनविलक्षणतया “अस्मिन्मन्त्रे तुरीयोद्धारस्तु” इति तत्त्वं च ।
शीतत्वात्तौष्ण्यव्राणनपट्टवासोविलक्षणचिराजिनवासोदिगम्बरत्वं च वा ।
अन्तः समन्त्रं तुरीयोद्धारं च । तुरीयोद्धारस्य तुर्यतुर्यत्वेन केनाप्यनाहतत्वात्
“तुरीयोद्धारप्रविस्रोतं तुर्यतुर्य” इति श्रुतेः । अनाहतमन्त्रं तुर्यतुर्यं ब्रह्म ।
अक्रियया सर्वविभ्रियापह्ववसिद्धया चिन्मात्रविद्या जुष्टं सेवितम् । यद्वा
गौणावधूतं ब्रह्मात्मेति मन्तारं त्रायत इति मन्त्रं सभ्यज्ञानं च स्वरूपानु-
संधानतो भवेदित्यर्थः । गौणावधूतोऽप्येवं सावनसंपन्नश्चेत् मुख्यावधूतो
भवति तदा तस्य विधिविषेधप्रवृत्तिरित्यतीतत्वेन शिष्टशिक्षणरूपोऽयं
स्वेच्छाचारो भवेत् न तदनुमार्गप्रापको भवितुमर्हति । सोऽपि स्वस्वभावः

^१ उ. उ. १, ‘अस्मिन्मन्त्रे’.

क्रियाकारकबन्धप्राप्तत्वात् । स एव मोक्षः स्वेतकल्पापह्नवसिद्धपरमात्म-
रूपत्वात् ।

“ब्रह्मवास्मीति या वृत्तिः सैव योग इर्नाग्निः ।

योगेन गतकामानां भावना ब्रह्म चक्षते ॥”

इति स्मृतेः ॥ ५९ ॥

मुख्यावधूतोपायसंपत्तिः

परंब्रह्मप्लवदाचरणम् । ब्रह्मचर्यशान्तिमंग्रहणम् । ब्रह्मचर्या-
श्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वविन्नचामं संन्यासम् । अन्ते
ब्रह्माखण्डाकारं नित्यं सर्वमंदेहनाशनम् ॥ ६० ॥

मुख्यावधूतत्वं यदुपायकं तदुपायसंपत्तिं तत्फलमपि प्रकटयति—परं
ब्रह्मेत्यादिना । आदौ तावत् गृहस्थेतगे ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा त्वाश्रमाचार-
संपन्नः सन् अपारगम्भीरविस्तारसंसारसागगेचारणार्थं सर्वस्मात् यत् परं
तद्ब्रह्म तद्गोचरज्ञानं परं ब्रह्म प्लवं तद्वान् मुख्यावधूतः तदाचरणं तत्सेवनं
कृत्वाथ तन्निकटे स्वचित्तशुद्धिपर्यन्तं द्विविधब्रह्मचर्यपुस्तसं गुरुकुलवामं कृत्वाथ
शान्तिदान्त्यादिग्रहणं साधनचतुष्टयोपलक्षणार्थं तदभ्यस्याथ नाद्यान्तर्विक्षेपक-
बलितश्रवणाद्यनुष्ठानानर्हकाम्याश्रममप्राप्यैव स्वाविद्याद्वयतत्कार्यप्राप्तसर्ववेदान्त-
शास्त्र स्वाचर्यमुखतो ब्रह्मचर्याश्रमे वानप्रस्थाश्रमे तुर्याश्रमे वा अधीत्याध्ययनं
श्रवणं कृत्वाथ मननं निदिध्यासनं च मुख्यावधूतताहेतुपूर्वाभ्यस्तसाधन-
विन्याससहितं स सर्वविन्यासाधिकरणं कबलीकृतसर्वसन्देहादिश्रुतिपटलं देह-
त्रयाभिमनान्तकाले संन्यासमखण्डाकारं ब्रह्म भूत्वा मुख्यावधूतो विदेहमुक्तो
भवतीत्यर्थः ।

“न्यास इति ब्रह्म । न्यास एवात्यरेच्यत् ॥,”

“अक्षरत्वाद्देहेत्येतान्तरात्तत्त्वज्ञानात् ।

तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते ॥,”

“ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति” इत्यादिश्रुतेः ॥ ६० ॥

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं विना पुत्रं विना न देयम् ।

इत्युपनिषत् ॥ ६१ ॥

एतच्छास्त्रमनधिकारिणे न देयं, यथोक्तसाधनसंपन्नाय देयं, इत्युप-
संहृति—एतदिति । एतन्निर्वाणदर्शनं “निर्वाणोपनिषन्नामकं शास्त्रं नास्या-
ब्रह्मवित्कुले भवति” इति श्रुत्या ब्रह्मवित्कुलप्रसूतस्य यथोक्तसाधनवैकल्येऽपि
क्रमेण भवेदिति द्योत्यते । तस्मात् पुत्रो मुख्याधिकारी यदि शिष्यो
यथोक्ताधिकारी तदा सोऽप्यधिक्रियते यत एवमतः पुत्रं शिष्यं विना यस्मै
कस्मैचिन्न देयमित्यर्थः । “नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वै पुनः”
इत्यादिश्रुतेः । इत्युपनिषच्छब्दौ निर्वाणदर्शनसमाप्तिद्योतकौ ॥

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

निर्वाणोपनिषद्द्वयाख्या लिखिता हरितुष्टये ।

निर्वाणोपनिषद्द्वयाख्या पञ्चाशद्युक्छतद्वयम् ॥

इति श्रीमदीश्वर्योत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविरणे सप्तत्वारिंशत्संख्यापूर्कं
निर्वाणोपनिषद्विकरणं सम्पूर्णम्

परब्रह्मोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ॥

दशैष्टा ब्रह्मविद्या

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं
विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । दिव्ये ब्रह्मपुरे मंप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु ।
कथं सृजन्नित्यात्मन एष महिमा विभज्य एष महिमा विभुः कः ।
एष तस्मै स होवाच । एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां
देवेभ्यः प्राणेभ्यः परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं
विभाति स नियच्छति ^१ मधुकराश्या निर्मकः अकर्मस्वप्नरस्थितः
कर्मकः कर्षकवत् फलमनुभवति । कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति ।
कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात् । को जालं विक्षिपेदेकेनैनमपकर्ष-
त्यपकर्षति ॥ १ ॥

परब्रह्माख्योपनिषद्देवाखण्डमुक्ताकृति ।

परिवाजकद्वयेऽहं परितस्त्रैपदं भजे ॥

इह खलु अथर्वणवेदप्रविभक्तेयं परब्रह्मोपनिषत् ज्ञानशिखोपदीतप्रकटनव्यथा
ब्रह्मज्ञानपर्यवसन्ना विवृण्वते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमभ्यस्यते । शौनक-

^१ उ. 'मधुकरः खेव विकर्मकः' अयमपि पाठः मूळकोशे लभ्यते ।

पिप्पलादप्रश्नप्रतिवचनरूपेण व्यायिका विद्यास्तुन्यथा । आख्यायिकामवताग्यति—
अथेति । पप्रच्छ किमिति । लोके ये ये सृज्यमानाः पदार्थाः ते सर्वे पूर्वमेव
दिव्ये ब्रह्मपुरे हिग्यकार्महृदयाकाशे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु । तत्र
आक्षिपति— कथमिति । स्वान्तस्स्थपदार्थान् विभागशः प्रविभज्य एष महिमा
अग्रदितवटनाशक्तिमंभो भगवान् स्वात्मनः सकाशात् कथं तान् सृजन्नवतिष्ठते ।
क एष महिमा विभुरिति शौनकाप्रश्नोत्तरमेव पिप्पलाद आह—एष इति ।
य एष पिप्पलाद इति ख्यातः तस्मै शौनकाय स होवाच । किमिति ।
यदहं ते वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां प्राब्रुवि तदेतद्ब्रह्म सत्यं असत्यसंभवप्रबोधसिद्धत्वात्
“पश्यतेहापि सन्मात्रममदन्यत्”, “ब्रह्ममात्रमसन्न हि” इति श्रुतेः । तत्
कुत्रोपलभ्यते इत्यत्र ब्रह्मपुरे रजआदिगुणक्याभावाद्विरजं प्राणादिनमान्त-
पोडशकलावैगल्यान्निष्कलम्, अत एव शुभ्रमक्षरं विभाति । किं कुर्वन् विभाति
इत्यत्र श्रोत्रादिदेवैभ्यः इन्द्रियैभ्यः प्राणापानादिदशप्राणैभ्यश्च स्वस्वविषयग्रहण-
शक्तिं दिशत् सत् तद्गतगुणद्रोषास्पर्शनतो विरजं विभाति प्रत्यग्विद्येवं
सद्रोपलभ्यत इत्यर्थः । पराभावे सति प्रत्यग्विद्येः कथमुदेति इत्यत्र इहामुत्रार्थ-
फलहेतुमध्वराख्यानि कर्माणि कुर्वन्तीति मधुकराः जीवाः । तेषां राक्षिः
समूहः तं आभूत्संप्लवं बन्धमोक्षव्यवहारार्हत्वा निर्मितवानिति निर्मेकः ।
य एवं निर्माता परमेश्वरः स एव मुमुक्षुपटलानुकम्पया तद्वत्पराभावं नियच्छति
निगृह्णाति निःशेषं प्रसति । ततो मुमुक्षुणां प्रत्यग्विद्येः प्रसीदति प्रत्यग्विद्येः
ब्रह्मोपलभ्यत इत्यर्थः । स्वात्मानं पुरस्कृत्य तद्भावभावनया तिष्ठतीति स्वपुरस्चितः
प्रत्यग्विद्येः किंमितीत्यत्र स्वकर्तव्यकर्मसामान्यं गम्य ।

“कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतः पारदर्शिनः ॥”

इति श्रुत्यर्थपर्यालोचनया न स्फुरति सोऽयमकर्मकः परित्रादित्यर्थः । तस्य
कर्मकत्वत्वात् “कर्तव्यं नैव तस्यास्ति” इति श्रुतेः । तद्विपरीतपर्याग्विद्येः
स्वकर्मकत्वोद्देशेन विविधं कर्मजातं करोतीति कर्मकः कर्मकत्वं कर्मकत्वं

अयं च परं चेत्युपलक्षितावस्थात्रयन्तकार्यप्रपञ्चे स्वातिगित्समन्ताति ब्रूता
 स्वाज्ञो जीवः परिभ्रमति । सर्वत्र सर्वदायं हिरण्यमये परे कोमे किं चक्षुषि
 स्वाज्ञानावरणच्छन्नः सन् ज्ञाप्रदायवस्थात्रयगतं पतति । नम्यापि श्रुत्याचार्य-
 प्रसादतो निष्कृतिर्भवेत् इत्यत्र दृष्टान्तः । यथैष देवदत्तो न्दालुर्यष्ट्या च
 नाड्यमानः सन् बोधितः पुनः नैव महत्मा स्वापमेति तथा अयमपि जीवः
 श्रुत्याचार्यप्रसादलब्धवेदान्तज्ञानेन 'न त्वमवस्थात्रयभाक् जीवः, किं तु
 तदवस्थात्रयगोपापवादाधिकरणं ब्रह्मामि' इति बोधितः सन् न पुनरवस्थात्रये
 मुह्यति । तत्र विकल्पितेष्टापूर्तादिशुभाशुभकर्मभिः न लिप्यते । यथा वा
 कुमारो बालकः इदं मे स्यादिति कामदृष्ट्यनुदयाभिष्कामः यदृच्छाप्राप्तवस्तु-
 न्यानन्दमभियाति । यथा चैष संप्रसादो देवः स्वप्ने जगरे च व्यक्तरन्
 श्रान्तः स्वापावस्थानियन्त्रानन्दं प्रत्यभिधावति । तथैवं श्रुत्याचार्यमुक्ताः
 स्वानन्दमात्रं ब्रह्माहमस्मीति यो वेद मोक्षं एवं पराक्प्रपञ्चतः परंज्योतिः
 प्रत्यक्प्रकाशो भूत्वा सूर्यादिज्योतिषामप्या समन्तात् मासकज्योतिरस्मीत्यात्मान-
 मानन्दयति स्वानन्दरूपेणावतिष्ठते । एवमेव यच्चित्तं तन् परंब्रह्माकारपणिप्तं
 भवति तत्परमात्मानमेत्यानन्दयति स्वात्मानं प्रीणयति, तत्परवशं
 सत्तत्रैव विलीयत इत्यर्थः । एवं चित्तप्रसादः कुतो जातः इत्यत्र ईश्वरस्य
 शुभ्रवर्णं वर्णो निर्विकल्पभाव आजायते ईश्वरस्याजडक्रियाज्ञानेच्छाशक्तिरन्तत्वन
 स्वभक्तारिष्टप्रासेष्टप्रापकत्वात् । एवं त्रिपुटिविरलनिर्विकल्पकसमाधिमुभूय भूयस्ते-
 नैव मार्गेण स्वप्नस्थानं "तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्मास्मि" इति किंचि-
 त्त्रिपुटिविरलनिर्विकल्पकवृत्त्यात्मतुर्यस्वप्नं प्राप्य तत्रात्मानं निबध्नाति
 विश्रामयति । यथा जडका स्वाधिष्ठितावातृणात् भावं तृणान्तरं गच्छति तथा
 अयमपि विद्वान् तुर्यजगरणस्थः तुर्यजगरणस्थश्च तुर्यजगरणं त्यजति ।
 एवं तुर्यजगरणस्थविभक्तवस्थात्रयस्वरूपं कामं कामोऽभिधावः आजायतेऽथवात्वात् ।
 तावतायं सविकल्पकनिर्विकल्पकसमाधिभ्यां स्वात्मानं नन्दयति । ततः
 प्रत्यक्प्रचितोर्यस्तन्निवः तयोरैक्यं तद्वेदसापेक्षैक्यमपरमीक्य विशेक्यदिति सन्धीति
 सन्त्यजति । यदेवं निर्विशेषं जातं तदेव परब्रह्म तदतिरेकेण नापरमस्ति यदा

स्वानिर्गुणमपरमर्त्नाति न त्यजति ब्रह्मात्रस्य निष्प्रतियोगिकत्वान् । यद्वै
 केवलश्रवणादिमात्रेण निर्विशेषब्रह्मज्ञानं नोदति तदैवम् । कं परममुष्णमुष्ण-
 कामादिवृत्तिन्यः पृथक्कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि । तेषामष्टकं
 यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्टकमष्टाङ्गयोग-
 मनुसन्धाय यथावदभ्यस्य तद्धलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाप्य
 कृत्कृत्या भवतीत्यर्थः । योगध्यानाधिकरणं किं इत्यत्र य एष स्तन इव
 कठलीपुष्पमिव च उरःप्रदेशे सदा अबलम्बते सोऽयं योगकाले ऊर्ध्वमुत्तिष्ठन्
 विकासमेति । अत्र हि खलु इन्द्रियोनिना ब्रह्मणा सह वर्तते इति सेन्द्रयोनिः ।
 य इन्द्रयोनिरित्युक्तः सोऽयमश्वरो वेदयोनिरिति सर्वैर्गीयमानः परमेश्वरे
 जायति जागर्ति । य एवं स्वहृत्कमलासनमर्माश्वमनुध्यायति स विद्वान् शुभा-
 शुभातिरिक्तः सन् कादाचित्कप्रसक्तशुभाशुभैरपि कर्मभिः न लिप्यते ।
 यद्वयायी शुभाशुभातिरिक्तः स देवः कादृशः इत्यत्र “अन्यदेवस्य ब्रह्मादेरपि
 य एष एव हि देवः तं देवतानां परमं च दैवतम्” इति श्रुतेः ध्यायिष्वेय्योर-
 मेदार्थं य एष देवः सोऽयं संप्रसादः अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः स
 एव प्रणवार्थतुर्यतुहंसः परं ब्रह्मेत्युच्यते । अत्र न प्राणहंसो मुख्यः प्राणो
 विवक्षितः परब्रह्मप्रकरणत्वात् । प्रणवो जीवः प्रणवाद्यवयवाकारवाच्यत्वात्
 तत्तिष्ठतिराद्या देवतेति निवेदयति । य एवं प्रणवयाथात्म्यं वेद तन् कथं स
 कथं जीवब्रह्मणोः भेदं निवेदयते निवेदयति किं तु जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति
 जीवब्रह्मणोः भेदं कदापि न ददाति स्मरति वेत्यर्थः ॥ २ ॥

अन्तर्बाधविस्वादिच्छाभ्रम्

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तःशितोष्णीतित्वम् । ब्राह्मणस्य
 मुमुक्षोरन्तःशितोष्णीतधारणम् । नहिर्ह्यस्यमाणशित्वाद्यज्ञोष्णीत-
 धारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । अन्तःशितोष्णीतदर्शनं तु नहिस्तन्तुवद-
 ॥ ३ ॥

अन्तर्वाङ्मिश्रवायज्ञोपवीतलक्षणमुच्यते—सत्त्वमिति । अथ प्रत्यगाभिन-
ब्रह्मभावानन्तरमस्य पुरुषस्य ब्रह्माभूतस्य यत् सत्त्वं तदेवान्तःशिवोपवीतत्वं
निर्विशेषज्ञानमित्यर्थः । तद्वाग्नं कस्य इत्यत्र म्वान्तर्विद्योतमानज्ञानशिवोपवीत-
वाग्नमकर्मिणो ब्राह्मणस्य सुमुखोऽग्नौ । ब्रह्मवाग्नोपवीतवाग्नं कस्य इत्यत्र
बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य । ब्रह्मवदान्तं
व्यक्तं न भवतीत्याह—अन्तरिति । अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्नुपवदव्यक्तं
व्यक्तं न भवति निर्विशेषब्रह्मज्ञानस्य मनोवागर्नान्तत्वात् । यदि अन्तस्तत्त्वमेतन्नं
स्वाविद्याशक्लब्रह्मगोचरं स्यात्तदा ॥ ३ ॥

निर्विशेषब्रह्मस्वरूपम्

न मन्नामन्न सदमद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम् ।

न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम् ।

ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥ इति ॥ ४ ॥

तत्राविद्याशम्भेकोपपत्तिभिः मिथ्येति निस्य निर्विशेषत्वमापादयेदित्याह—
न सदिति । यदविद्यास्वरूपं तन्न सन् कारणरूपेणाचाक्षुषत्वात् । तथा नासन्
कार्याकारेण चाक्षुषत्वात् । न सदसन् तयोरेकत्रानवस्थानात् । तत् किं स्वभिन्नं
स्वपृथक्सत्ताभावात् । तत् किं नाभिन्नं अवस्तुत्वात् । न च भिन्नाभिन्नं
दुर्लभत्वात् । न सभागं कारणान्मत्ता निरवयवत्वात् । न निर्भागं कार्यात्मना
सावयवत्वात् । न चाप्युभयरूपकं पूर्वोक्तविरोधापत्तेः । एतावता अनिर्व-
चनीयत्वमस्योक्तं भवति । तथा चेदिदमपि ब्रह्मवत् सत्पदमर्हतीत्यत्र यावद्ब्रह्मन्मै-
कत्वज्ञानं नोदेति तावदस्य सत्त्वम् ; जाते तु ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽस्य मिथ्यात्व-
कारणात् ब्रह्मातिरिक्तं नैकपदमेव भवेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कर्मणः क्तिच्छुद्धिप्राप्तकम्

पञ्चपादब्रह्मणो न किंचन । चत्वारिदन्तर्वातिनोऽन्तर्जीव-

ब्रह्मणः स्थानानि क्तवारि । नामिहव्यक्तमूर्तिषु व्यक्तस्वा-

सुषुप्तिर्ब्रह्मविद्याः, आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु । जागरिते
 ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम् । तस्मा-
 द्चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य,
 तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुण-
 स्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय, नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा,
 नवमानमितं त्रिः पुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्रशिकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य,
 आद्यन्तकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधाय,
 आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्धन्यावद्वैतग्रन्थिं कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मबिम्ब-
 प्रमाणं पृथक्पृथक्सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षण-
 लक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामांसादिदक्षिणकट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्त-
 ग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकम्, 'सत्यं सृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचार-
 म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', हंसेतिवर्णद्वयेनान्तः-
 शिखोपवीतित्वं निश्चित्य, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानाहृत्य, यतित्वमलक्षि-
 तान्तःशिखोपवीतित्वम्, एवं नहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थ-
 स्य, आमासब्राह्मणत्वस्य केशसङ्ग्रहशिखाप्रत्यसकार्पास्तन्तुवदुपवी-
 तित्वम् । चतुःस्रगुणीकृत्य च विंशतितत्त्वापादनतन्तुवद्वैतम्, नव-
 तत्त्वमेकमेव परं ब्रह्म, तत्रातिशयोक्त्या तत्त्वद्वयार्थद्वयं कल्पयन्ति ।
 सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका ब्रह्मैकमेव
 ब्रह्मोपनिषत् । नवार्थमाचारिणोः पृथक्पृथक्, शिखा व-
 तित्वमिति चेत्, अतस्तत्रैव कतेः शिखावद्वैतान्तरिकं प्रत्यमेक-

मेव वदन्ति । हंसः शिखा, प्रणवमुपवीतम्, नादः संधानम् ।
एष धर्मो नेतरो धर्मः । तत्कथमिति । प्रणवो हंसो नादश्चिद्वृत्तमूर्तं
स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति । त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि । प्रापञ्चिकशिवो-
पवीतं त्यजेत् ॥ ५ ॥

स्वातिगिताविद्यारूपमस्ति नाम्नीनि भ्रान्तिः पञ्चपादब्रह्मणः नृयानांनस्य
न किञ्चनास्ति व्यष्टिस्मष्ट्यात्मकचतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मण उपलब्धि-
स्थानानि चत्वारि भवन्ति व्यष्टिचतुष्पादन्तर्वर्तिनो विश्रुतैरज्मप्राज्ञतुर्गयाः
सप्तष्टिचतुष्पादन्तर्वर्तिनस्तु विरादसूत्रर्वाजतुर्गयाः तेषामुपलब्धिस्थानानि कानि
इत्यत्र नाभिहृदयकण्ठमूर्ध्निषु नेत्रकण्ठहृदयमूर्धनिवत्यर्थः । तत्र जाग्रत्स्वप्न-
सुषुप्तिनुर्यावस्थाः भवन्ति । तथाच श्रुतिः—

“नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठं स्वप्नं ममाविशेत् ।

मुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्” ॥ इति ॥

किं च आचरणीयगार्हपत्यदक्षिणासभ्याग्निषु च यथायोगमात्मा भाव-
यितव्य इत्यर्थः । जागरणादौ विभक्तः चैतन्यमेदमाह—जागरित इति ।
बाह्ययज्ञसूत्रं यथोक्तत्वावगमात् । नोचेत् बाह्ययज्ञसूत्रं दृष्टान्तीकृत्य ब्रह्मसूत्रं
प्रपञ्चयति—तस्मादिति । यस्माद्यज्ञब्रह्मसूत्रयोः सामानाधिकरण्यं भवति सूत्र-
त्वाविशेषात् तस्मात् जाग्रदादिचतुष्टयस्यैव विभाव्य यथा
यज्ञसूत्रं चतुरङ्गुलमानेन षण्णवतिसंख्यातं तथा षण्णवतितत्त्वानि श्रोत्रा-
दींश्चरन्तानि । एवं यज्ञसूत्रं ब्रह्मसूत्रभावनामावितं कर्मभिर्यदि धृतं तदा तत् तं
कर्म चित्तशुद्धिप्रापकं भवेदित्यर्थः । ब्रह्मसूत्रं चतुरङ्गुलमात्रं वाचास्मरणमाह—
मूलमिति । यन्मृदादिवत् कारणं तत् सत्यं यत्तत्तद्विज्ञानविजृम्भितं कार्यं
तदाचारस्मरणमृदतिरेकेण घटाद्यभावात् कारणं ब्रह्मैव सत्यमिति । हंसेति कर्म-
द्वयेनान्तःस्थितोपवीतित्वं निश्चित्य हंसः सोऽहं इति यावन्पूर्वकं सदा
चित्तं चित्तशुद्धिप्रापकं । तेन किं स्यात् इत्यत्र ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मसूत्रं

तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः ।
 स वेदवित्मदाचारी स विप्रः पङ्क्तिपावनः ॥ ८ ॥
 येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव ।
 तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः ॥ ९ ॥
 बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ज्ञानतत्परः ।
 ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ।
 नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणम् ॥ १० ॥
 सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
 ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ ११ ॥
 ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
 ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥ १२ ॥
 अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
 स शिखीत्युच्यते विद्वाज्जेतरे केशधारिणः ॥ १३ ॥
 कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा ।
 ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ।
 ब्रजन्ते निरयं ते तु जन्म जन्मनि जन्मनि ॥ १४ ॥
 वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः ।
 अन्तर्गतप्रमाणं तत्त्वतन्तुसम्पन्निभम् ।
 नाभ्यादिब्रह्मरन्धान्तं प्रमाणं धारयेत्सुधीः ॥ १५ ॥
 तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
 ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन ॥ १६ ॥
 इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
 विद्वान्यज्ञोपवीती संचारयेद्यः स मुक्तिमाकृ ॥ १७ ॥
 बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
 एक्यज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ १८ ॥
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।
 बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥ १९ ॥
 बहिष्प्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्व-
 मवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवान्छौनकः ।
 इत्युपनिषत् ॥ २० ॥

सर्वापवादाधिकरणतया सूचनात् सूत्रमित्युक्तम् । शौनकः पिप्पलादमुखतो
 ब्रह्मतत्त्वमवगम्य स्वशिष्येभ्यः एवमाहेत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः परब्रह्मोप-
 निषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥ ६-२० ॥

श्रीवत्सुदेवजिह्वोपनिषत्सु
 परब्रह्मोपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।
 प्रकृतोपनिषद्व्याख्यानार्थिन्निशोत्तरं शतम् ॥

इति श्रीमदीशाख्योत्तमोपनिषद्व्याख्यानं
 परब्रह्मोपनिषद्व्याख्यानं सम्पूर्णम्

परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

भद्रं कर्णेभिः—इति शान्तिः ॥

परिव्राजकलक्षणविज्ञानमा

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मकर्म सर्वं श्रुतं विदितमवगतम् । इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि । कः परिव्रजनाधिकारी कीदृशं परिव्राजकलक्षणं कः परमहंसः परिव्राजकत्वं कथं तत्सर्वं मे ब्रूहीति । स होवाच पितृप्रोक्तान्नारायणः ॥ १ ॥

परिव्राज्यधर्मवन्तो यज्ज्ञानाद्ब्रह्मतां ययुः ।

तद्ब्रह्मप्रणवैकार्यं तुर्यतुर्यं हरिं भवे ॥

इह परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् परमहंसधर्मप्रतिपादनव्याघ्रा ब्रह्मप्रणवार्थं तुर्यतुर्यधर्मावेष्टान्ता विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । ब्रह्मनारायणप्रत्यप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तुल्यार्था । पितामहो विश्वभूः नारायणो विश्वपालकः ताम्यामाविर्भूतोऽयं कीदृशो भवतीति आख्यायिकाप्रतिवचनं—एवेति । अथ ब्रह्मज्ञानादिब्रह्मचारिण्यस्यादिधर्मव्रतानन्तरं काश्यपादिनवप्रजापतयः सर्वलोकापितरः यस्तेषामपि

पिता स सर्वलोकापितामहः स्वपितरमादिनारायणं कार्यसत्त्वे स्वयमादि
सर्वाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वात् वस्तुतो यत्र कार्यकारणकलना नास्त्यरमि-
ति नारं कार्यकारणकलनामंभवप्रबोधमिद्विनिष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावस्थानलक्षण-
विदेहकैवल्यं तदेवायनं स्वरूपं यस्य सोऽयमादिनारायणः तं स्वाङ्गदृष्ट्या
मूर्तिमदवस्थितम्

“अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥”

इति स्मृतेः । तमुपसमेत्य दण्डवत् प्रणम्य पप्रच्छ । किमिति भगवान्निति ।
सर्वं यथावत् श्रुतम् । परमहंसपरिव्राजकलक्षणं यथावत् वेदितुमिच्छामि ।
तत्कृत्वा प्रश्नमङ्गीकृत्य स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

अधिकारिरित्युक्तम्

सद्गुरुमभीषे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्तसर्वमैहिका-
मुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वेवणात्रयवासनात्रयममन्तवाङ्कारादिकं वमनाज-
मिव हेयमुपगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवे-
द्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा
वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वास्नातको
चोत्तरास्नातको वा षडहरेव विव्रजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् इति
सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं
कलत्रमासन्धुर्वर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वरुणोदयेन तद्वैके
प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तद् तवा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव
कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव
कुर्यात् । एतमेव त्रयो धातवो षड्भुत सत्त्वं रजस्त्वम् इति ।

अयं न योनिर्ऋत्वियो यतो जानो अगेचयाः ।

तं जानन्नश्न आगेहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेन् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ
स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ।

ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्नि-
माजिघ्रेन् । यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयान् । आपो वै
सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य
प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वानं वानाशकं
वापां प्रवेशो वाग्निप्रवेशो वा महाप्रस्थानं वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा
वाचा वा संन्यसेत् । एष पन्थाः ॥ २ ॥

तत्तुल्यप्रत्येक्याह । परिव्रजनाधिकारिणं निरूपयति—सदिति । न
कदापि संसारमण्डले सुखलेशोऽस्तीत्यवगम्य दाराद्येवणाश्रये .दि -
वासनात्रयदारादौ शरीरे च रूढमूलं ममत्वाहंकारादिकं वमनाजमिव
हेयमुपगम्य स्वातिरिक्तास्तित्वभ्रममोक्षमार्गेकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । जाबालोपनिषद्युक्तार्थमेतत् । यदि सर्वसंसारं विरक्तो
भवति तदा ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा आदौ पित्राद्यनुमोदनं कृत्वा
संन्यसेदित्याह—पितरमिति । .दमोदित्वा प्रवचेदित्यर्थः । यदि
स्वयमाहितास्तिक्ता चरमेष्ट्यादिकर्मसमाप्तिः कार्येत्यत्र—तद्वैक इति । तद्वैक
इत्यादि जाबालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ २ ॥

विराजस्व संन्यासः

स्वस्थः क्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजहोमं कृत्वा,
अग्निमाहृत्योप्य, लौकिकनैऋतसामयजुः स्वयं यजन्त्यहोमं

यदि निगमयः संन्यस्तुमिच्छति तदा नारदपरिव्राजकोपनिषच्चतुर्थो-
पदेशोक्तरीत्या सर्वमाचरेदित्याह—स्वस्थ इति । पुत्रे समारोप्य तदभावे
शिष्ये वा पुत्रादेः पित्रादिभ्यन्वाधिकारत्वात् तदभावे स्वात्मन्येव वा
ममार्गोपयेत् उपमहरेदित्यर्थः । वेदमातरं क्रमान् भूरादिव्याहृतिः त्रिषु
प्रविलाप्य । प्रणवपूर्वकं सलक्षणं सत्वचं समवर्कं पुण्यस्थलसमुद्भूतं
नानाकल्मषशोभितं इत्यादिसंन्यासोपनिषदुक्तप्रकारेण वैष्णवं दण्डमित्यादि ।
अथ हस्ताभ्यां जलावतरणं संकल्पेन ऊर्ध्वगमनं मनोराज्यं एकमिक्षां
परित्यज्येति । ब्रह्म निःप्रतियोगिकं ब्रह्मातिगितं न किञ्चिदस्तीति प्रबोध एव
ब्रह्ममार्गः तत्र संपन्ना भूत्वा परमसिद्धान्तमात्मन्येव गोपयित्वा स्वात्मनिष्ठो
भूत्वा कादाचित्कप्रसक्तकामक्रोधेत्यादि । ब्राह्मणप्रविभक्तचतुर्षु वर्णेषु
अभिज्ञस्तपतितवर्जितेषु पशुः इव अद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय ब्रह्माभावाय
भवति । “यो ब्रह्माणं निदधाति पूर्वम्” इति श्रुत्यनुरोधेन गुरुर्विष्णुः “नैवेद्यार्थं
महाविष्णोः स्वादु माघृकरं शुचि” इति स्मृत्यनुरोधेन गुरुर्वैश्वदेवः ग्राममुपेत्य
ध्रुवशीलः अचलस्वभावोऽपि अष्टौ मास्येकाकी चरेत्वेवाचरेत् यदि
श्रवणध्यानाधिकारी न भवति तदा चातुर्मास्य एकत्रासनं शिष्टमासे ग्रामैकरात्रं
इत्याद्युत्तरीत्याटनं एतद्वयमेव यतिभिराचरणीयमित्यर्थः । यदा कुटीचकाद्याश्रमे
अलंबुद्धिर्मवेत् । “पात्रे पतितमश्रीयात्तत्र किञ्चिन् हि स्मरेत्” इति स्मृतेः ।
कृत्स्नेयमुपनिषत् नारदपरिव्राजकोपनिषद्ब्रह्माख्यानेन प्रायशो व्याख्यातेति
मन्तव्या ॥ ३ ॥

ब्रह्मप्रणवस्वरूपविज्ञप्ता

भाक्त् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच
नारायणः । ब्रह्मप्रणवः षाड् भावात्मकः सोऽस्त्याक्तुष्टयचतुष्टय-
गोचरः । जाग्रदवस्थायां जाग्रदादित्तत्त्वोऽस्त्याः स्वप्ने स्वप्ना-
दित्तत्त्वोऽस्त्याः सुप्तौ सुप्त्यादित्तत्त्वोऽस्त्याः तृतीयादि-

चतस्रोऽवस्था भवन्तीति । व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति । व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजमतुरीय इति । सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति । तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञः । एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः । अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रतैजसे मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कल्यातीति स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीति सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः पुर्यो तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुर्यतुरीयः । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम् । अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरूपास्यः । तेनैव ब्रह्म प्रकाशते । विदेहमुक्तिः ॥ ४ ॥

ब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणेति प्रश्नबीजमवष्टभ्य ब्रह्मप्रणवेयत्तामवगन् ब्रह्मणा पृष्टः प्रश्नोत्तरं भगवानाहेत्याह—भगवन्निति । स होवाच नारायणः । किं तत् इत्यत्र—ब्रह्मप्रणव इति । तत् कथं इत्यत्र—जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः जाग्रदादित्यादे । स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः स्वप्नजाग्रदित्यादि । सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः सुषुप्तिजाग्रदित्यादि । तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति तुर्यजाग्रदित्यादि । व्याष्टमष्टमात्मकजाग्रज्जाग्रदविषोडशावस्थासु व्याष्टज्जाग्रज्जाग्रदविषोडशावस्थारूढा विश्वविश्वदित्युपप्राज्ञान्ताः

इत्याह—**चातुर्विध्यं** इति । तथा व्यष्टिस्वप्नावस्थायामिति । तथा व्यष्टिसुषुम्न्यवस्थायामिति । तथा तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं इत्यत्र तुरीयविश्वः तुरीयतैजसः तुरीयप्राज्ञः इति त्रैविध्यं ज्ञेयम् । सविशेषनिर्विशेषावेर्काकृत्य चातुर्विध्याक्तिः सविशेषप्रपञ्चापह्नवसिद्धं निर्विशेषं तुर्यतुरीयमिति पृथक् ज्ञानं युक्तत्वात् तथा समष्टिजाग्रज्जाग्रदादितुर्यस्वापान्त-पञ्चदशावस्थारूढा विराड्विराडादितुर्यर्बीजान्ताः तथा व्यष्टिसमष्ट्यैक्यसिद्धजाग्र-जाग्रदादिपञ्चदशावस्थारूढा ओत्रोत्राद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ताः जाग्रजाग्रदाद्य-विकल्पान्तविकल्पा यत्रापह्नवं भजन्ति तदविकल्पाविकल्पं तुर्यतुरीयमिति ज्ञेयम् । एतदर्थस्य ब्रह्मप्रणवदीपिकायां सम्यक् प्रपञ्चितत्वात् उक्तविकल्पाः एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः तत् कथं इत्यत्र—अकारे जाग्रद्विश्व इत्यादि । जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं विद्वीति शेषः । तथा स्वप्नमात्राचतुष्टय-मुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशं जानीहीत्यर्थः । यत् एवमतो व्यष्टिसमष्टितदुभयैक्यसिद्धजाग्रजाग्रदादितुर्यस्वा-पान्तकलनारोपापवादाधारविश्वविश्वाद्यविकल्पानुज्ञैकरसान्ताः प्रणवविकारा इत्यत्र “सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्” इति श्रुतेः । जाग्रजाग्रदादिचतुष्टयपञ्चदशकलना यत्रापह्नवतां भजति यत्तदपह्नवसिद्धं तुरीयतुरीयं तन्निष्प्रतियोगिकतया स्वमात्र-मवशिष्यते एवमर्थो यत्र अवगम्यते अयमेव ब्रह्मप्रणवः । स परमहंस-तुरीयादीतावचूतैरुपास्यः ब्रह्मप्रणवज्ञानेन साम्प्रित्य तेनैव ब्रह्म स्वाव-शेषतया प्रकाशते यः प्रबोधो निष्प्रतियोगिकतुर्यतुर्यमात्रगोचरः तेनैव ब्रह्ममात्रप्रबोधेन ब्रह्ममात्रावस्थानलक्षणविदे रूचिः भवतीति प्रकरणार्थः ॥ ४ ॥

अवज्ञोपवीतिनो ब्राह्मणम्

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिक्षी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्म-
निष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति । स होवाच विष्णुः ।
नो नोऽर्थकं कस्यास्त्यक्तैतमात्मज्ञानं तदेव ब्रह्म । तस्य

ध्याननिष्ठैव शिखा । तत्कर्म सपवित्रम् । स सर्वकर्मकृन्म ब्राह्मणः
 स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव
 सर्वज्येष्ठः स एवाहं विद्धि । लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः ।
 यद्येकोऽस्मि स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषः । महापुरुषो
 यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते । अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः । स एव
 नित्यतृप्तः स शान्तोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः स निन्दामर्ष-
 महिष्णुः स षडूर्मिवर्जितः षड्भावविकारशून्यः स ज्येष्ठान्येष्ठव्यव-
 धानरहितः स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा, आशाम्बरो न नमस्कारो
 न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विमर्जनपरो निन्दामनुनिव्यतिरिक्तो
 न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः सर्वोप-
 रतः स विद्वान्निर्विकल्पविद्वान् संपूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्य-
 नवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स परमहंसपरि-
 ब्राडित्युपनिषत् ॥

ब्रह्मप्रणवस्य परमहंसाद्यधिकारत्वात् परमहंसादेः सर्वत्र ब्राह्मणत्वं
 श्रूयते यः संन्यासी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मणः इति प्रसिद्धिस्तु
 शिखायज्ञोपवीतविशिष्टकर्मठानामेव ब्राह्मणत्वमिति तद्विरलस्य यतेः कथं
 ब्राह्मण्यं इति ब्रह्मा भगवन्तं पृच्छतीत्याह—सगवमिति । प्रश्नोत्तरं स
 होवाच विष्णुः । ईदृशो मद्भावापन्नो लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः ।
 स एव नित्यतृप्तः शान्तोष्णसुखदुःखसिद्धिप्रापकत्वात् । स शान्तोष्णसुख-
 समानावमानवर्जितः देहादावात्मात्मीयाणि प्राप्नुवतीत्यात् । स षडूर्मिवर्जितः
 अक्षनायाद्यतीतत्वात् । षड्भावविकारशून्यः भावषट्कास्पदस्थूलदेहवैकल्यात् ।
 स ज्येष्ठान्येष्ठव्यवधानरहितः “यो न स्वरूपज्ञः स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठः”

इति श्रुतेः । स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा द्रष्टव्यान्यस्य मृम्यत्वात् ।
 विसर्जनीयाभावात् न विस्मयः । न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यान-
 शून्यः मन्त्रतन्त्रदेवोपासनाभिः भवितव्यार्थाभावात् लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः
 लक्षणया बोधितं लक्ष्यं तद्विपरीतमलक्ष्यं वाच्यं स्वातिरेकेण तदुभयं नास्ति
 अहमेवेदं सर्वं इति निवर्तकः । ब्रह्मप्रणवार्थतुर्यतुर्यस्वमात्रमित्यनुसन्धानतो
 विद्वान् तुर्यतुर्यरूपेणावशिष्यते विदेहमुक्तो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः
 प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ।

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 प्रकृतोपनिषद्ब्राह्म्या लिखिता तुर्यतुर्यगा ।
 प्रकृतोपनिषद्ब्राह्म्याग्रन्थजातं शतं स्मृतम् ॥

इति श्रीमदीशाय्योक्तशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षट्षष्टिसंख्याप्रकं
 परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्विवरणं संपूर्णम्

परमहंसोपनिषद्

पूर्णमदः—इति शान्तिः ॥

परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः

ॐ । अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां क्व
स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच । तं भगवानाह ।
योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो मयेको
भवति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्वन्ते
महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्ने-
वाकस्यीयते असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन्विस्त्रायज्ञोपवीतं स्वा-
ध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्ड-
माच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकत्रयेवोपकारार्थाय च परि-
ग्रहेत् । तच्च न शुद्ध्योऽप्येते । को मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥ १ ॥

परमहंसोपनिषद्व्यापारमुल्लासकृति ।

त्रैपदश्रीरामतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

इह खलु परमहंसोपनिषदः इत्युक्त्याविमर्शनादौ विदुषोऽपि -
दुषोद्धृतादिकं चिन्तयन् । नारदश्चात्रप्रशस्तिर्यमस्येवमस्ति विदुस्तुभ्यां ।

योग्याधिकारिण उपलब्ध तेषां निःश्रेयसायाग्यायिकाकारेण प्रवृत्ता—अथेत्यादिना ।
 अथ स्वकृतभक्तिश्रद्धानयोभिः भगवन्मानिष्यान्तरं देवर्षिगतिं विख्यातो
 नारदो मुनिर्षत्र पद्मगुणैश्वर्यसम्पत्तिः पर्यवमना तं भगवन्तं विनयेनोपसमेत्यो-
 वाच । किमिति योगिनां परमहंसपरिव्राजकानां मार्गः पन्थाः कोऽयं कौटिल्यः
 तेषां स्थितिः कौटिल्य इति नारदेन पृष्टो भगवान् हरिः तं प्रत्येवमाह—तमिति ।
 तमेवं पृष्टवन्तं नारदं प्रति भगवान् हरिरिवमाह किं तदिति । यथाक्ताचारविशिष्ट-
 कुटीरचक्रवृद्धकहंसानां मार्ग एव दुर्लभो लोके तावत्ततोऽपि परमहंसमार्गो
 दुर्लभतरः । दुर्लभतमार्गं श्रुतिः स्वयमेवाह—न तु बाहुल्य इति । यदि
 कदाचित् एतादृश एको भवति तदा स एव परमहंसः । नित्यपूते विशुद्धात्मनि
 स्वे महिम्नि निष्ठीर्नाति नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुषो वेदार्थः परमात्मेति
 विदुषो ब्रह्मविद्वर्ग्यामो मन्यन्ते । अत एव परमहंसो महापुरुषो भवति यस्य
 म्हापुरुषस्य चित्तं मय्येव नागम्यते तदाकाशकारितयाऽवतिष्ठते यस्मादेवं
 तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते । परमात्मनि प्रत्यक्प्रतीचि परमात्मेति
 प्रत्यगभेदेनासाववस्थितः सन् स्वीयतया भातपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीन् वहि-
 ल्यक्ष्यमाणशिक्षां यज्ञोपवीतं च स्वार्थीतस्वाध्यायवेदजातं च तद्विहित-
 सर्वकर्माण्ययं संन्यस्य स्वाह्नदशायां स्वावाप्तधिया यद्वातं तत्त्वतुदशभुवनलंकृत-
 ब्रह्माण्डं च स्वातिगिक्तधिया हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं नित्यकर्मोपयोगि-
 भिक्षाचारादिवस्त्राणि च परिग्रहेत् किमर्थं तत्परिग्रहः इत्यत्र स्वशरीरोपभोगार्थाय
 भोगार्थं शीतमृदादिनिवृत्त्यर्थं लोकस्थैवोपकारार्थाय च लोकोन्मार्गानिस्तनाय
 कौपीनदिकं परिग्रहेदित्यर्थः । कौपीनादिपरिग्रह एवास्य मुख्यः इत्यत आह—
 तच्च न मुख्योऽस्तीति । कौपीनादिपरिग्रहो न हि परमहंसानां मुख्योऽस्ति ।
 तर्हि तेषां कोऽयं मुख्यः इति चेत् कौपीनादित्याम एव मुख्यः इत्याह—अयं
 मुख्य इति ॥ १ ॥

परमहंसपरिव्राजकानां स्थितिः

न दण्डं न शिक्षां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो
 न कीर्तिं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानात्मनां इति । बह्वि-

वर्जितो निन्दागर्वमन्मदम्भदर्पेच्छाद्वेषमुन्वदुःस्वकामक्रोधलोभमोह-
हर्षामूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते. यतस्मद्वपुः-
पध्वस्तमंशयमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्मेन नित्यनिवृत्तस्त्वन्नित्य-
बोधस्तन्म्वयमेवावस्थितिम्नं शान्तमचलमद्रयानन्दनिदवन एवाम्मि,
तदेव मम परमं धाम तदेव शिवा तदेवोपवीतं च, परमात्मात्मनां-
रेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभक्तः सा मंध्या ॥ २ ॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः ।

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी म उच्यते ॥

काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वांशी ज्ञानवर्जितः ।

तितिक्षा ज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा ॥

म याति नरकान्वोरान्महारौरवमंज्ञकान् ॥

इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥ ३ ॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न
निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्विज्ञोः नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं
न ध्यानं नोपासनं च । न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथग्वाहनं
सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुस्तौर्णार्दीनां नैव परि-
ग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव ।
यस्माद्विष्णुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् । यस्माद्विष्णु-
र्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत् स पौलक्यो भवेत् । यस्माद्विष्णुर्हिरण्यं
रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत् । तस्माद्विष्णुर्हिरण्यं रसेन

न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामाः मनोगता व्यावर्तन्ते ।
 दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहः त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरन-
 भिराहो न द्वेष्टि न मोदं च । सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य
 आत्मन्येवावस्थीयते । नत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृत-
 कृत्यो भवति । कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥ ४ ॥

न हि गार्हस्थ्योचिनदण्डशिखाय । पवीताच्छादनं परिगृह्य परमहंसः
 चरति न हि तस्य श्रोतोष्णमानावमानकलनाऽस्ति सेयं कलना देहनिष्ठा
 परमहंसस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावारूढत्वेन देहत्रयोपलक्षितस्वविद्यापदतत्कार्यविलक्षण-
 त्वात् अत एव षड्भिर्वाजितः अगनायापिपामाशोकमोहजराभरणानीति षड्भ्य-
 न्दहिनः परं निन्दागर्वः स्मयः धनविद्यादिविषयः ह्यर्थापिदृक्क्रोधो मत्सरः
 दम्भो धर्मध्वजित्वं दर्पः स्वान्पत्रालक्ष्यबुद्धिः लब्धव्यविषयस्पृहा इच्छा
 स्वाहितकारिणी द्वेषः इष्टविषयजं सुखं अनिष्टविषयजं दुःखं इष्टवस्त्वभिलाषः
 कामः तत्कुण्ठनकारिणी क्रोधः स्वद्रव्ययागानिच्छा लोभः अतस्मिन्स्तद्बुद्धिः
 मोहः स्वेष्टविषयागमजो हर्षः परश्रेयोऽसहिष्णुता असूया उद्वतवृत्तिरहंकारः
 आदिशब्देन सर्वाण्येव ममकादिः गृह्यते एतत्सर्वं स्वातिरिक्तधिया हित्वा यः
 स्वमात्रवस्थितिमीहते तद्दृष्ट्वा स्ववपुः कुण्ठयामिव दृश्यते यतो यस्मात्
 ब्रह्मज्ञानात् अपध्वस्तसंशयमिथ्याज्ञानानां स्ववपुरेवं दृश्यते तद्दृष्ट्वा ब्रह्म-
 विषयकज्ञानस्याविर्भावाय यो हेतुः प्रत्यक्त्वेन प्रतीचा प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावेन
 नित्यनिवृत्तस्वाज्ञानो यत् स्वाज्ञाननिवृत्त्यधिकरणं तन्नित्यबोधः परमात्माऽयं
 नित्यबोधस्वरूपं तत् स्वबोधेवावस्थितिः स्वमात्रवशोक्तया स्थितिः मुक्तियौ
 मुक्त इत्यभिहितः तं स्वातिरिक्तविद्यापदतत्कार्यज्ञानप्रतियोगित्वात् यत्वात्
 अचलं आत्मानं अद्वयानन्दचिद्ब्रह्म एवास्मीति ज्ञात्वा यत् ज्ञानसमकालं
 स्पृष्ट्वा तदेव मम परमं धामस्वरूपं तदेव शिक्षा तदेवोपवीतं च
 वेदशर्पासंविदाः तस्य का सन्ध्या इत्यत आह—
 नत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ।

ज्ञानेन तयोर्भेद एव विभक्तः तत्त्वभेदः तस्य स्वस्मयत्वात् या जीव-
ब्रह्मव्यवस्थितिः सैव सन्ध्या—

“नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन न ।

सन्ध्या जीवात्मनोर्गन्धं मा सन्ध्या मद्विरुध्यते ॥”

इति स्मृतेः । इत्थं स्वानिर्गुणस्यैव कामान् परिचर्य्य अपह्वं कृत्वा परमाहूते
स्थितिस्तद्रूपेणावस्थानं ज्ञानदण्डः स्वान्स्मात्रावशेषतया येन धृतो भवति
स द्वेकदण्डी इत्युच्यते एवं पारमार्थिकमन्यामिनं मृत्वा आभामन्यामिनं
दृष्यति—काष्ठदण्ड इति । ज्ञानगन्धर्वकत्वेन येन काष्ठदण्डो धृतः स हि
सर्वांशी केवलद्वेकदण्डी निर्विशेषज्ञानवर्जिनो भवति किं च गीतान्यादितिशिवा-
पुरस्सरं सविशेषज्ञानतदित्यविवक्षितशमादिगुणैर्हितः स्वान्नत्राव्यव्यापृतिः
सन् केवलमिष्टामात्रेण यो जीवेन् सोऽयं पापी पापकृन्मो भूत्वा
मदृत्तयतीनामपि वृत्तिहा भवेत् सन्मन्यासिनोऽपि लोकाः संन्यास्याभासान्
मत्वा दृष्ट्वा उपेक्षां कुर्युः तद्वेषेणायमाभामयतिः महत्तत्त्वसंज्ञकत्वेन नरकान्
याति इदं पारमार्थिकाभामसंन्यासिनोरन्तरं ज्ञात्वा आशाम्बरो दिगम्बरः
न नमस्कारः ज्येष्ठकनिष्ठकलनावल्यान् न स्वाहाकारो न स्वधाकारो
देवपैत्र्यकर्मसामान्यस्य त्यक्तत्वात् न निन्दास्तुतिः निन्दनीयस्तुत्यगुणवैल्यान्
बाहुच्छिको भवेत् देहधारणमात्रेण प्रवृत्तिगून्यो भवेत् हि यादृच्छिकः इत्यत्र
यथेच्छाचरणं विधीयते यथेच्छाचरणस्य इच्छापूर्वकत्वेन पतन्मेव स्यादित्यत्र
उक्तत्वेन स्वस्मिन्नेव मुक्तिर्गति न सर्वत्राचारप्रसक्तिः “तदाचारव-
शात्तत्त्वद्वेकप्राप्तिः” इति श्रुतेः । एवं देहमात्रधारणेन प्रवृत्तिनिवृत्तिगून्यस्य मिश्रोः
न हि स्वान्यत्रावाहनं विसर्जनं उच्चारणं उपासनं लक्ष्मलक्ष्यादिकं वा
अस्तीत्याह—मिश्रोगति । उक्तविशेषणविशिष्टस्य मिश्रोः न हि पृथक्त्वेन
अपृथक्त्वेन वा त्वमहं तच्छब्दगोचरं सर्वं स्वातिर्गितं कस्त्वस्ति यदि व्यावहारि-
कत्वेन प्रातिभासिकत्वेनास्तीति आन्तिस्तदा अनिकेतस्त्विदमिति व्याविद्धात्मी-
यनिकेतनाभिप्रातिः स्वदेहे तदन्यत्र वा अहंकारममकारविरल एव भूत्वा यो कर्तते
स मिश्रः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेत् न लोकेनं नावलोकनं च न च बाधकः

कः इति चेत् सुवर्णादिपरिग्रहनिमित्ताभावात्तन्निमित्तमस्तीति स्वीकृत्य न हि सुवर्णाद्यान्नेकत्वं वा न हि कदापि कुर्यात् एवं कृते बाधकः कः इति चेत् बाधकोऽप्येव तन् कथं यस्मादुपभोगनिमित्तान् भिक्षुः भिक्षुणा हिंरण्यं क्लृप्तकृत्वादिगसेन प्रेम्णा दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत् यस्मादित्यादि समानं यदि तद्गसेन स्पृष्टं तदाऽयं पौलकसश्चर्मकागे भवेत् यदि ब्राह्मं गृहीतं तदा मोऽयमात्महा भवेत् तस्मान् भिक्षुः हिंरण्यं गसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ब्राह्मं च गसेन सुवर्णगत्तादिदृष्टेन स्पर्शेन ग्रहणं वा न कदापि कुर्यात् पथिगन्तवृणवद्भागं विना दृष्टेन न दोषाय भवति स्पर्शेनग्रहणयोः मध्येनैव प्रसक्तत्वात् “मा गृह्यः कस्य म्विद्धनम्” इति श्रुत्यनुगोचेन सुवर्णाद्यनिच्छेदः परमहंसस्य स्वःज्ञदृष्टिप्रसक्तमनोगताः मनसि विकल्पिताः सर्वे कामाः स्वज्ञदृष्ट्या व्यावर्तन्ते मिथ्यात्मनया निवर्तन्ते यत एवमतः परमहंसः दुःस्वप्नाद्यधोदयेऽपि नोद्विग्नो भवति तथा सुखप्राग्धोदयेऽपि तत्र निःस्पृहो भवति रागद्वेषप्रसङ्गेऽपि तत्त्यागो भवति सर्वत्र स्वातिगित्तिनिवृत्तिमार्गः शुभं प्रवृत्तिमार्गोऽशुभं तयोर्गन्मिस्नेहः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गपराङ्मुखः प्रवृत्तिमार्गे न द्वेष्टि निवृत्तिमार्गे न मोदं चानुभवति सर्वेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां च शब्दादन्तःकरणस्य च गति-
स्तत्तद्विषयग्रहणशक्तिर्यत्रात्मन्येवोपरमते स्वात्ममात्रावशेषतया अवस्थीयते तदधि-
करणत्वेन योऽवशिष्यते सोऽयं तत्त्वार्णानन्दैकबोधः “कार्यकारणतां हित्वा
पूर्णबोधोऽवशिष्यते” इति श्रुतेः । यत्पूर्णबोधत्वेनावशिष्टं तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति
तद्ब्रह्म स्वमात्रमिति ज्ञानसम्पत्कालं कृतकृत्यो विदेहमुक्तो भवति । आवृत्तिः
आदरार्था । इत्युपनिषदिति प्रकृतोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिर्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

परमहंसोपनिषद्ब्राह्मण्येयं लिखिता स्फुटम् ।

परमहंसोपनिषद्विद्वत्पण्डितैः शतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीश्वर्योत्तरस्तोपनिषद्ब्रह्मविकरणे एकोनविंशतिसङ्ख्यासूक्तं

परमहंसोपनिषद्विद्वत्पण्डितैः सङ्कलितम्

ब्रह्मोपनिषद्

सह नावतु—इति शान्तिः

चतुष्पादम्

¹ अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभि-
हृदयं कण्ठं मूर्धा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते
ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रूद्रस्तुरीयमक्षरम् । स आदित्यो
विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनन्तःप्रोक्ष्यमाणः । पादं ज्योतिर्विदितम् ॥१॥

¹ वेदेषु चतुष्पादं ब्रह्म विभाति इत्येवमर्थं उच्यते उपक्रमे—“सौमित्रे ह
वे महावाकोऽक्षिरसं भगवन्तं पिप्पलयं पप्रच्छ । दिव्ये ऋषिरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति ।
कथं सृजन्ति । कस्यैव महिमा कम्बू । नो ह्येव महिमा कम्बू क एवः । तस्मै स
होवाच ऋषिर्वा वरिष्ठम् । प्राणो ह्येव आत्मा । वात्सलो महिमा कम्बू । देवायामानु-
षः, देवानां विष्णुमनिक्वं, दिव्ये ऋषिरे विरजं निष्कलं सुप्रसन्नं ब्रह्म विभाति । स
निवच्छति मधुकरराजमक्षिभ्यक्त । नृणां महिमा मधुकरराजान्महामन्तं सर्वा एषोऽक्षम-
न्ते तन्वैर्यस्यमन्तं ते सर्वे देवाः । स सृजताकर्मति मासीक्यत् ।
नृणां मासीक्येन तन्तुना जातं विक्षिपति देवापकर्षति तन्वैव प्राणो ब्रह्मवाति संख्या-
कम्ब । प्राण्येकतास्ताः सर्वा वाचः सुजये ह्येनाकाशकत् । नृणां च ह्येव आभिन्न नाति
स्वमात्मनेवं सुषुप्तयो । तन्वैव देवदत्ते कथापि तावन्मात्रो न वेत्येवमिदमर्थः सुप्रसन्नं
चिन्ते । नृणां ह्युमारो निष्कलं वात्सल्यमुपवाति तन्वैव देवदत्तः स्वयममनन्तःप्रोक्ष्यमाणः ।
वेद एव परं ज्योतिः । ज्योतिष्कस्यो ज्योतिः । मूर्ध्नि तेन स्पर्शः कच्छति

यद्ब्रह्मोपनिषद्व्यक्तविस्फुलिङ्गि^१ हृदुज्ज्वलम् ।

त्रैपदानन्दमाश्राज्यं कलये तत् स्वमात्रतः ॥

इह मूलं कृष्णयजुर्वेदान्तर्गतब्रह्मशाखायां यत्काण्डत्रयं प्रकाशितं तत्र
सकामस्य केवलकर्मकाण्डानुष्ठानतो धूमादिमार्गेण पुनरातिम्वन्द्रलोकास्तिरभिहिता
निकामस्य तु कर्मोपासनाकाण्डार्थसमुच्चयानुप्राप्तादन्तरादिमार्गेणापनरावृत्तिमद्ब्रह्म-
लोकास्तिस्तत्र तन्मुखासादितब्रह्मज्ञानस्तत्रत्योपाधिप्रलयसमकालं तेन सह
तद्वावापत्तिः केषां चित्तशुद्धयाधिव्यान्मार्गद्वयेऽपि विगतिर्जायते तेषां झटिति
निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रावगतये ज्ञानकाण्डान्मिकेयं ब्रह्मोपनिषत् प्रवृत्ता उपनि-
पूर्वकस्य ^२षट्पदानुगम्यानुगमान् मुमुक्षोः स्वाज्ञानविशरणपूर्वकं निष्प्रतियोगिक-
ब्रह्ममात्रगमकत्वादिति ब्रह्मविद्योपनिषत् । तादर्थ्येन ग्रन्थोऽप्युपनिषत् ।
एवमुक्तलक्षणब्रह्मोपनिषदोऽल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते—अथेति । अथ यथोक्त-
ब्रह्मविद्यासाधनसंपत्त्यनन्तरं मुमुक्षोः स्वातिरिक्ताहृदबुद्धित्वेन निष्प्रतियोगिक-
ब्रह्ममात्रोपदेशानर्हत्वात् तन्मात्रबुद्ध्यारोहाय सोपायब्रह्मविद्या वक्तव्येति परमद-
यावती श्रुतिः यतः प्रवृत्ता अतो ब्रह्मोपलब्धिस्थानकल्पना युज्यते यः
“पूर्णमेवावशिष्यते” इति, “पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः”
इति च श्रुतिसिद्धः पुरुषोऽवशिष्यते तस्यास्य पुरुषस्य परमात्मन उपलब्धि-
स्थानानि चत्वारि भवन्ति तानि कानि किं देशान्तरे वर्तन्ते इत्याकांक्षायां
स्वशरीरे तानि वर्तन्त इत्याह—नाभिरिति । चकारादक्षिणाक्ष्यादिस्थानान्तर-
मस्तीति द्योत्यते । तत्र कीदृशं ब्रह्म इत्यत आह—तत्र चतुष्पादं ब्रह्म

बलौकिकम् । यथा बलौकिकप्रमथं नयत्यात्मानम्, नयति परम्, संकयत्यपरम्, नापरं त्यजति
..... स जाग्रदभिधीयते । यथैवैष कमालाष्टकं संनयति य एष
स्त्वन इवावच्छिन्न एष देवयोर्निर्वत्र जाग्रति कुमाकुसुमानिर्वचमस्य देवस्य स संप्रसादोऽन्तर्वा-
मी खगः कर्कटकः पुष्करः पुष्पः प्राणो हंसः परापरं ब्रह्मत्मा देवता वेदवति । य एवं
वेदं स परं ब्रह्मवाम क्षेत्रज्ञमुपैति ” ।

^१ उ १. ‘विष्फुलिङ्गि’

^२ उ. उ १. ‘अष्टतोः’

सान्तकलना न संभवति तन्निर्वाणरूपेण स्वमात्रमवशिष्यत इत्याह—यत्रेति ।
 लेख्येति । अस्ति नास्तीति विभ्रमासंभवे हेतुमाह—एकमिति ।
 निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रमेकमेव परं ब्रह्म विकलेवरनिर्वाणरूपेण विभाति स्वाज्ञादि-
 दृष्टिमाहे सति । असति कैवल्यमेकरूपेण चकास्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

निर्वाणस्य एकत्वम्

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति ॥ ३ ॥

कथं निर्वाणमेकं निष्प्रतियोगिकं तन्निष्पत्तत्वेन देवादेः सत्त्वात् इत्यत
 आह—न तत्रेति । यत् स्वमात्रमवशिष्टं न हि तत्र देवर्षिपितरः सन्ति
 तन्मात्रावस्थायां स्वयमलब्धात्मानो नियन्तुनियम्यतया स्थातुं कथमीशते समर्था
 भवन्ति किन्त्वेक एवात्मा देवर्षिपित्रादिकलनाविरलं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रतिबुद्धः
 देवर्षिपित्रादिभिरपि ब्रह्मास्मीत्येव प्रतिबुद्धो भवति न हि मेददृष्ट्येत्यर्थः ।
 यद्यत् स्वाज्ञाविकल्पितं तत्तत् अहमेवेदं सर्वं इति श्रुतिसिद्धा या सा सर्वविद्या
 तया स्वविकल्पितसर्वसंभवप्रबोधरूपया स्वमात्रमिति लब्धुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

त्रिवृत्सूत्रम्

इदिस्था देवताः सर्वा इदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः ।

इदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः ॥

इदि चैतन्ये तिष्ठति ॥ ४ ॥

ब्रह्ममात्रप्रबोक्तव्यकारित्वेन संन्यासविधितस्या भूमिकां करोति—
 इदिस्था देवता इति । स्वस्तिरित्येकं स्वमात्रतया हरतीति इच्छादेन प्रत्यक्षचैतन्य-
 मुच्यते तस्मिन् इदि तद्विद्येति हृदयकमले वा अन्याद्याः सर्वा देवताः
 प्रतिष्ठिताः । तथा इदि प्राणापानादौ ज्योतिः प्राणाः पञ्च वागादयश्च विद्याश्च
 प्रतिष्ठिताः तथेति सूत्रे नासापुष्टसंचारी प्राणश्च स्वयंन्योतिरात्मा च

चकारद्वयतो यद्यस्ति नास्तीति विकल्पितं तन्मर्व हृदये प्रतिष्ठितमिति द्योत्यते
बहिस्सूत्रस्याग्निस्तदेतत्त्रिवृत्सूत्रमिति विदुः जानन्ति बहिःसूत्रं क प्रतिष्ठितं
इत्यत आह—हृदीति । सर्वस्यापि हृदयप्रतिष्ठितत्वात् ॥ ४ ॥

बहिःसूत्रम्

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यज्ञं पुरस्तान् ।

आयुष्यमग्न्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥ ५ ॥

कीदृशं बहिःसूत्रं इत्यत आह—यज्ञोपवीतमिति । यज्ञस्य विध्योरूप-
सामीप्येन वीतं विशेषेणागतं जीवस्वरूपं यज्ञोपवीतं स्वगतजीवतापाये
तदेव परममुत्कृष्टं अत एव पवित्रं प्रजापतेः यज्यवहागकाणं सहजं यद्वा
देहेन्द्रियादिवत् सहजं पुरस्तात् पूर्वमायुष्यं अग्न्यं अष्टं स्वात्मानं विदित्वा
स्वान्यत्र मर्तिं प्रतिमुञ्च यच्छुभ्रं ज्योतिष्मद्यज्ञोपवीतं तदवलम्ब्य ब्राह्मणोपवीतं
प्रतिमुञ्चेति वार्थः । यस्मादेतद्धृदि चैतन्ये तिष्ठति तस्मात् इदं यज्ञोपवीतं
त्रिवृत्कार्पासजं त्रैवर्णिकैः धार्यं तत्कार्पाससूत्रं बलं वीर्यवत् कर्मकारणमस्तु तेजो
ब्रह्मवर्चसादिवृद्धिकरं भूयादित्यर्थः ॥ ५ ॥

ब्रह्मसूत्रम्

सशित्वं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्वनेद्बुधः ।

यदक्षरं परं ब्रह्म तत्तन्मिति धारयेत् ॥ ६ ॥

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम् ।

तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥ ७ ॥

येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे भणिगमा इव ।

तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगनिर्जितकर्मणाम् ॥ ८ ॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्यागमुत्तममाम्थितः ।

ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः ।

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिद्यो नाशुचिर्भवेत् ॥ ९ ॥

त्रैवर्णिकानां श्रौतस्मार्त्तिकमसाधनतया प्रतिपद्याथ परिव्राजकानां बहिर्यज्ञोप-
वीतादित्यागपूर्वकं मुख्यशिखायज्ञोपवीतं धार्यमित्याह—सशिखमिति । शिखासहित-
केशश्मश्र्वादिवपनं कृत्वा यत् बहिः त्रिवृत्सूत्रं कर्माङ्गभूतं नित्यादिसाधनसंपन्नो
बुधः बहिःशिखासूत्रोपलक्षणस्वातिरिक्तास्तिताबुद्धिं त्यजेत् ततः किं इत्यत
आह—यदिति । यन् स्वातिरिक्तक्षरप्रपञ्चापह्रवसिद्धमक्षरं परं निरुपमोत्कृष्टं
स्वावशेषतया वृंहणात् ब्रह्म तत् स्वमात्रमिति धारयेत् किं तत् कथं धार्यं
तद्धारणफलं कीदृशं इत्यत आह—सूचनादिति । “सन्मात्रमसदन्यत्”, “ब्रह्म-
मात्रमसन्न हि” इत्यादिश्रुतिभिः सूचनात् स्वातिरिक्तग्रासं ब्रह्मैव सूत्रमिति
ब्रह्मविद् आहुः । सूत्रं नाम किं इत्यत आह—परं पदमिति परं निरतिशयं
तद्रूपेण पद्यत इति पदं ब्रह्ममात्रमित्यर्थः । तदेतत् सूत्रं येन स्वमात्रतया विदितं
स विप्रो ब्रह्मविद्वीर्यान् स्वरोपितात्तदपह्रवमुखेन वेदा यत्र पर्यवस्यन्ति तद्धेद
परं ब्रह्ममात्रं गतो भवति । ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । कथं एतादृशं पदं मन्दबुद्धिगम्यं
भवतीत्याशङ्क्य तत्पदारोहोपायत्वेन सूत्रस्वरूपमाचष्टे—येनेति । स्वातिरिक्त-
ज्जगदारोपाधिकरणतया यत् सूत्रितं सूत्रे मणिगणवत् येनेदं सर्वं अविद्यापद-
तत्कार्यजातं प्रोक्तमनुविद्धं तदेतत्सूत्रमीश्वरचैतन्यं तत्तत्त्वं सर्वापवादाधिकरणं
निरधिकरणं वा दर्शितवान् योगवित् तदेवास्मीति धारयेत् कथं पुनरेवं
धार्यं इत्यत्र तद्वत्तद्देयांशस्यागपूर्वकं शिष्टांशं धार्यमित्याह—बहिरिति । यश्चेतनो
विद्वान् बहिःसूत्रशिखोपलक्षितस्वातिरिक्तविद्यापदतत्कार्यजातं त्यजेत् ततोऽयं
योगी एवं त्यागशिष्टं ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेत् सोऽयमेवं धारयित्वा
ब्रह्मभूतयोगमाप्तिं लो भवतीत्यर्थः । एवंविदोऽप्युच्छिद्यदिविशिष्टोपाधिव्योगात्त-
यात्वं स्यादन्त्याह—सूत्रमावापनस्योपाधिव्योगात्तत्कार्योच्छिद्यदिवैर—

धारणादिति । नवद्वारप्रवेगनिर्गमाभ्यामुच्छिष्टः अस्पृशंयोंगादशुचिः तदे-
तूपाध्ययोगात् उच्छिष्टादिः न ह्यस्तीत्यर्थः ॥ ६-९ ॥

ज्ञानशिखादीनां मुख्यब्राह्मण्यल्लिखता

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥ १० ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।

ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥ ११ ॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यम्य ज्ञानमयी शिखा ।

स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ १२ ॥

शिक्षायज्ञोपवीताभावे ब्राह्मण्यभावमाशङ्क्य ज्ञानशिखोपवीतसत्त्वान्मुख्य-
ब्राह्मणत्वं स्यादित्याह—सूत्रमिति । स्वातिरिक्तकल्पागहितं सूत्रं ब्रह्मास्मीति
येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनां नैक्यपदमाख्यानं सूत्रमन्तर्गतमिव विभाति लोके
ते वै सूत्रयाथात्म्यविदः ते च यज्ञोपवीतिनः अत एवैते पवित्राज्जाः
ज्ञानशिखिनो ज्ञानोपवीतिनः सूत्रज्ञाननिष्ठाश्च सूत्रज्ञानं हि तेषां
पवित्रमुच्यते अत एव तेषामुच्छिष्टशुचिनस्त इत्युक्तम् । यस्यामिशिखेव
ज्ञानमयी शिखा विद्यते सोऽयं विद्वान् शिखीत्युच्यते नेतरे केशधारिणः
शिखिनो भवन्ति ॥ १०-१२ ॥

क्रियाब्रह्मम्

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।

तेभिर्घार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥ १३ ॥

एवं चेत् सर्वैरपि शिक्षायज्ञोपवीतादिकं परित्याज्यमित्यत आह—
कर्मणीति । स्वाहन्तरस्मरणं मया कर्मण्यमिति ये तु त्रैविंशति ब्राह्मणा नो

वैदिके कर्मण्यधिकृताः तेभिस्तैरेव कार्पासतन्तुनिर्मितमिदं यज्ञोपवीतं क्रियाङ्गं इति धार्यम् । तथाच श्रुतिः—“यज्ञोपवीत्येवार्धार्थात् याजयेद्यजेत वा यज्ञस्य” इति त्रैवर्णिकानां क्रियाङ्गत्वेन यज्ञोपवीतं स्मृतम् । हिशब्दः प्रसिद्धिचोक्तः ॥ १३ ॥

निरुपचरितब्राह्मण्यम्

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

त्रैवर्णिकेषु निरुपचरितब्राह्मण्यं कस्येत्यत आह—शिखाज्ञानमयीति । त्रैवर्णिकेषु ब्राह्मणजानैरेव पारिव्राज्यविधानात् तत्र यस्य ब्राह्मणजातिजस्य शिखा ज्ञानमयी उपवीतं च तन्मयं ज्ञानमयं भवति तस्य सकलं निरुपचरितं ब्राह्मण्यमिति ब्रह्मविदो विदुः जानन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतयायात्म्यः

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं अन्तरायणः ।

स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्विनं विदुः ॥ १५ ॥

एतद्विश्वब्रह्मण्यापादकयज्ञोपवीतयायात्म्यं किं इत्यत आह—इदमिति । इदं यज्ञोपवीतं तन्मयं ज्ञानं क्रियाकारकादिकलनोपमर्दकत्वेन परमं वेदेतत् ज्ञानं ब्रह्मात्रपरायणं स्वगतहेयांशापायतः तन्मात्रतयाऽवशेषितं भवति यो वा इदमहमस्मीति विद्वान् स हि यज्ञोपवीती ब्रह्मात्रवित् स्यात् ज्योतिष्टोमादियज्ञोऽपि स एव स्यात् य एवंवित् त ब्रह्मीभूतं वेदविदो यज्विनमग्निहोत्रिणं विदुः स एवाग्निहोत्री नान्यः इत्यत्र—

“प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानमग्नौ जुहुयादिति : ।

आत्मन्यग्नीन् सम्प्रोष्य सोऽग्निहोत्री भवत्यतिः ॥”

इति श्रुतेः । स्वानिर्गुणं स्वान्मात्रं हुत्वा विद्वान् स्वयमेवावशिष्यन्
इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ब्रह्माभूतो विद्वान् एक एव

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः माक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १६ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीराम्तेषां सुखं शाश्वतं नेतेषाम् ॥ १७ ॥

किमयं ब्रह्माभूतो विद्वान् अनेकः इत्यत आह—एक इति । अयं ब्रह्माभूतो
मुनिः एक एव निष्प्रतियोगिकब्रह्मात्रभावापन्नत्वात् । न कौटुम्भः इत्यत आह—
देव इति । स्वयंप्रकाशचिद्रातुत्वात् प्रकाशमात्रः किं न दृश्यते इत्यत आह—
सर्वभूतेषु गूढः इति । स्वब्रह्मप्रत्यगमेदेन भास्मानांऽपि स्वाङ्गार्थविकल्पित-
सर्वभूतेषु चतुर्विधेषु स्वावृत्तिरयावृत्तदृष्टीनामभानात् गूढः । एवं चेत् परिच्छेदना
स्यादित्यत आह—सर्वव्यापीति । व्यामवत् सर्वानुस्यूतत्वात् । सर्वस्यानात्मत्वेन
तद्योगात् तथात्वं स्यादित्यत आह—सर्वभूतान्तरात्मेति । चतुर्विधभूतान्तर्वि-
भाताहंप्रत्ययालम्बनप्रत्यगात्मतया विभानात् न ह्यनात्मना संव्रज्यत इत्यर्थः ।
सर्वभूतप्रत्यक्त्वे तद्वत्कर्तृत्वादिसंसारिता स्यादित्यत आह—कर्माध्यक्ष इति ।
प्रतीचः सर्वभूतकृतकर्तृत्वाद्यस्पर्शित्वेन तत्कृतसर्वकर्मफलप्रदातृत्वात् । तथा चेत्
नटस्थिता स्यादित्यत आह—सर्वभूताधिवास इति । सर्वभूतान्यात्मत्वेनाविकृत्य
क्वसानात् सर्वात्मरूपः इत्यर्थः । सर्वभूताधिवासत्वेन तत्तद्भूतान्तःकरणवृत्त्यनु-
विद्धता स्यादित्यत आह—साक्षीति । साक्षिणः स्वसाक्ष्यस्पर्शित्वेन सर्व-
विक्षणत्वात् न ह्यन्तःकरणवृत्त्यनुविद्धता स्यादित्यर्थः । “सर्वस्य साक्षी ततः
सर्वस्मादन्यो विक्षणः” इति श्रुतेः । साक्ष्यसापेक्षसाक्षित्वे तद्वान्यमन्यत
आह—चेतेति । अचेतनासाक्ष्यचेतयितृत्वात् न हि साक्ष्यविकारः तं स्पृशति

तत्र हेतुमाह—केवल इति । अशेषविशेषरून्य इत्यर्थः । गुणयोगेन गुणिनः केवलता कुतः इत्यत आह—निर्गुण इति । आविद्यकगुणानां कारणतुल्यत्वेन तद्योगस्य दृढभत्वात् निर्गुणः । चशब्दः निम्प्रतियोगिककेवलत्वख्यापकः इत्यर्थः, चिन्मात्रस्वरूपत्वात् । यस्तु इत्थंमूतनिर्गुणः परमात्मा निम्प्रतियोगिकैकरूपोऽपि सोऽयं स्वाङ्गदृष्ट्याऽनेक इव न वस्तुत इति जानतां स्वातिगित्शान्तिपूर्वकं स्वमात्रस्थितिः स्यादित्याह—एक इति । यः परमात्मा वस्तुतः एकोऽपि स्वाङ्गदृष्टिप्रमत्तमवबन्धी सर्वनियन्तृत्वात् सर्वभूतान्तरात्मेति व्याख्यातं स्वस्य वास्तवं यदृषं सजार्तायविजार्तायस्वगतमेदापह्नवसिद्धमेकं चिन्मात्ररूपं स्वाङ्गदृष्ट्या बहुधा नानेव यः करोति वस्तुतः चिन्मात्रमेवायं इत्यर्थः । तद्वद्भुत्वेन गानं स्वाज्ञाननिमित्तं स्वाज्ञाननिमनोपायमाह—तमिति । य आत्ममात्रावशेषतया स्थितः तमात्मस्थं निम्प्रतियोगिकस्वमात्रतया येऽनुपश्यन्ति धीराः ब्रह्मविद्वीर्यामः तेषां स्वमात्रावशेषलक्षणकैवल्यसुखं सिद्धं भवति नेतरेषां स्वाहृतदृष्टित्वात् ॥ १६, १७ ॥

ब्रह्मास्त्युपायः

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यामादेवं पश्येन्नगूढवत् ॥ १८ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।

एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १९ ॥

ऊर्णनाभिर्यथा तत्तून्मृजते संहृत्यपि ।

जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥ २० ॥

नेत्रस्थं जगारितं विद्यात्कण्ठे स्त्र्यं समाविशेत् ।

सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थिताम् ॥ २१ ॥

^१ यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दमेतज्जीवम्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥ २२ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं ह्यसि सर्पिरिवान्वितम् ।

आत्मविद्यातपोमूलं तद्वस्योपनिषत्पदं तद्वस्योपनिषत्पदमिति ॥

तदानुपायः कः इत्यत आह—आत्मानमिति । आत्मानं अन्नःकरणं अधारणि कृत्वा प्रणवमोकां चोत्तरारणि कृत्वा दीर्घवण्डान्नादवन् प्रणवमुच्चार्य तदा पूर्वोत्तराणिस्थान्स्थान्तःकरणप्रणवव्याननिर्मेधनाभ्यासान् कोऽयं प्रणवार्थः इत्यत्र स्वाह्वृष्टिप्रसक्तस्वाविद्यापदनकार्यप्रविभक्तजगज्जगद्विद्या-विकल्पानुज्ञाकरसान्तर्गतहेयांशापह्नवसिद्धं तुर्यतुर्यं ब्रह्म स्वमात्रमवशिष्यत इति प्रणवार्थानुसंधानं ध्याननिर्मेधनाभ्यासः तस्मादभ्यामान् मथनाविभूतकाष्ठ-निगूढाग्निवत् एवं जगज्जगद्विद्यापदविकल्पानापह्नवमिदं तुर्यतुर्यं स्वावशेषश्रिया पश्येत् ॥ मथनात्तस्मात् आविर्भवति इत्यत्र बहु दृष्टान्तमाह— तिलेष्विति । यथा तिल्यन्तवर्षणभ्रमणोपायतः तिलेषु तैलं स्पष्टमुपलभ्यते यथा दग्निं मथिते तज्जनवनीते अग्निना संस्कृते सांपर्धृतमुपलभ्यते यथा खोचस्सु भूनाडिषु खननोपायतः आप उपलभ्यन्ते यथा जरणिषु चाग्निः मथनादुपलभ्यते । चक्षुःशब्दात् सूर्यकान्तादिष्वपि सूर्यकिरणयोगतोऽग्निरुपलभ्यत इति द्योत्यते यथा दृष्टान्तपरंपरा तथैवमात्मा तुर्यतुर्यं आत्मन्यन्तःकरणे श्रुत्याचार्यसंस्कृते स्वातिरिक्तजगज्जगद्विद्यापदविकल्पानां प्रसिद्धा स्वमात्रं जायते उपलभ्यते असौ तुर्य इत्यर्थः । तदानुपायान्तरमाह—सत्येनेति । सत्यवचनेन

^१ वेदमुक्तिश्चेति—

“यदात्मा ब्रह्मात्मानं संवते मयात्मनि ।

तेन संख्या व्याप्तेन तस्मात्संख्यामिदं ब्रह्म ॥

मिदं ब्रह्म व्याप्यं ब्रह्म वाच्यमज्ञेयमिति ।

संख्यया संख्यायाम् वा संख्या संख्यायाम्” ॥ इत्युक्तिश्चेति ।

कृच्छ्रचान्द्रायणादितपसा मन्थं ब्रह्माहमस्मि इति बोधेन तदुपायश्रवणादि-
तपसा वा योऽधिकारो अनुपश्यति तेनापि लभ्य इत्यर्थः ॥ अवस्था-
त्रयेऽपि जीवानेकत्वं स्यात् इत्यत्र दृष्टान्तेन तन्निराकरोति— ऊर्णनाभिरिति ।
यथोर्णनाभिः क्षूना कीटः स्वशीरगतः तन्तून् सृजते न केवलम् ; एवमुपसंहरति
च आर्द्रतन्तूनां लालासमन्त्या सृष्ट्युपसंहारौ युज्येत इत्यर्थः । तथा जीवोऽयं
जाग्रत्स्वप्ने जाग्रत्स्वप्नौ क्षूनाकीटवत् सृजन्नुपमंहरन्नेक एव भवति बहुजनिवासना-
वैचित्र्यादहमेक इत्यस्मृतिरिविच्छा स्वप्नादावनुभूतस्यानुभूतस्य च स्मृतेः उप-
लब्धात् गृह्णात् गृह्णन्तरं शिशुगिवायं पुनः पुनः जाग्रदादिस्थानात् स्थानान्तरं
गच्छत्यागच्छते तस्मादवस्थाप्रागसंचार्यान्मा एक एवेत्यर्थः ॥ यत् पुन जागृतादि-
स्थानतया नाभ्यादिरुक्तः इदानीं विस्पष्टमाह—नेत्रेति । नाभिनेत्रयोरैकत्वेन विवक्षि-
तत्वात् नेत्रे निष्ठतीति नेत्रस्थः विश्वविश्वः तमात्मानं जागरितं जागरणावस्थागतं
विद्यात् कण्ठप्रदेशे जाग्रत्प्रविभक्तस्वप्नावस्थापन्नं विश्वप्रविभक्तैतजसं समाविशे-
जाग्रत्प्रविभक्तसुषुप्त्यवस्थागतं विश्वप्रविभक्तप्राज्ञं हृदयस्थं त्वेव विद्यात् विश्वप्रवि-
भक्ततुरीयं दशमद्वारि मूर्ध्नि संस्थितं विद्यात् इत्यनुषज्यते ॥ तुरीयाथात्म्यं
विशदयति—यत इति । यतो यस्मात् तुर्यात् श्रुतीनां वाचः संकल्पादिवृत्ति-
मन्मत्ता सह निवर्तन्ते तमप्राप्याप्रकाशयेत्यर्थः । तदेतज्जीवस्य तुर्यानन्दरूपं
यत् ज्ञात्वा बुधो मुच्यते तदेव तुर्यानन्दरूपं तुर्ययाथात्म्यमित्यर्थः । तुरीयं
मूर्ध्नि संस्थितं इत्युक्तिः परिच्छिन्ना स्यात् इत्याशङ्क्य तत् परिहरन्
शास्त्रार्थमुपसंहरति—सर्वव्यापिनमिति । “ व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मा ”
इति श्रुत्यनुबोधेन निष्प्रतियोगिकचिन्मात्रमयात्मानं स्वाज्ञदृष्टिप्रसक्तत्वात्तिरिक्त-
सर्वव्याप्यव्यापिनत्वापे नोपायं विना लभ्यत इति दृष्टान्तमाह—क्षीर इति ।
यथा क्षीरे सर्पिः स्वभावेन समर्पितमपि मथनानुपायं विना न लभ्यते
तथाऽयमात्मा नोपायमन्तरेण लभ्य इत्यर्थः । कोऽयं तदकात्युपायः इत्यत आह—
आत्मेति । अनात्मापह्वमुत्प्रेनात्ममात्रावगातिहे विबोधोपनिषदयःश्रवणादिः तयो-
रपि मूलमात्रं यद्वा स्वमात्रतया अवशिष्यते तद्वदुपायवत्पुनःपनिषदेक-

गम्यत्वात् उपनिषत्नाम ब्रह्ममात्रज्ञानं तत्पदं तु ब्रह्ममात्रं अभ्यासेनित्यदौ
उपनिषत्तदर्थपक्षिसमाप्त्यर्थी ॥ १८-२३ ॥

श्रीवात्सुदेवेन्द्राग्न्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

लिखितं स्वाद्विवर्णं ब्रह्मोपनिषदो लघु ।

ब्रह्मोपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु द्विजानं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशानन्दोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे षष्ठादशस्त्यायुगक

ब्रह्मोपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

मिश्रवोपनिषत्

पूर्णमद—इति शान्तिः

चतुर्विधा भिक्षवः

अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहुदकहंसपरमहंसाश्चेति
चत्वारः ॥ १ ॥

कुटीचकाः

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाज्याज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ
ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

भिक्षूणां पटलं यत्र विश्रान्तिमगमन् सदा ।

तत्तैपदं ब्रह्मतत्त्वं ब्रह्ममात्रं करोतु माम् ॥

अथ खलु शुक्लयजुर्वेदप्रविभक्तेयं मिश्रवोपनिषत् कुटीचकादिधर्मग्रंथांसा-
पूर्वकं ब्रह्मणि पर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते ।
ययोक्तविकारिण उपलभ्य श्रुतिः कुटीचकादिधर्मग्रंथान् प्रकटयति । आदौ
कुटीचकादिधर्मानाह—अवेति ॥ १, २ ॥

बहूदकाः

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषाय-
वस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाष्टौ ग्रामान्मैसाचरणं
कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदकधर्मानाह—अथ बहूदका नामेति ॥ ३ ॥

हंसाः

अथ हंसा नाम ग्रामैकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे मत्सरात्रं
तदुपरि न वसेयुः । गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायण-
परायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

हंसधर्मानाह—अथ हंसा नामेति ॥ ४ ॥

परमहंसाः

अथ परमहंसा नाम संतर्जितवस्त्रोपवीतान्धमरतदत्तात्रय-
कृत्वाभदेवहारीतकधृतयोऽष्टौ ग्रामांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव
प्रार्थयन्ते । वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा । साम्बरा वा
दिगम्बरा वा । न तेषां धर्माधर्मौ न हि तेषां लभ्यान्मकलनास्ते ।
शुद्धाशुद्धद्वैतवर्जिताः समलोष्टाश्मकाश्चनाः सर्ववर्णेषु मैसाचरणं
कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति । अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परि-
ग्रहाः । अक्षयानपरायणा आत्ममात्रनिष्ठाः प्राणसंचारणार्थं यथोक्त-
काले मैसाचरन्तः । अन्यभारदेवमृदुल्लसत्कल्मीकवृक्षभूलकुलाल-
शाल्वनिर्जोत्रशालानदीपुलिगिरिकन्दरकुहरकोटरनिर्मलपान्थले तत्र

ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन
देहत्यागं कुर्वन्ति । ते परमहंसा नामेन्त्युपनिषत् ॥ ९ ॥

परमहंसव्रतान् प्रकाशयति--अथ परमहंसा नामेति । तेषां वसतिं
चर्यामाह--वृक्षमूल इति । न तेषां धर्माधर्मौ भवतः प्रवृत्तिनिवृत्तिपराङ्मु-
खात् सर्वत्र हर्षविषादाभावात् न हि तेषां लाभालाभकलनादि ।
विशिष्टाद्वैतं शुद्धाद्वैतं केवलद्वैतं अशुद्धाद्वैतं च येषां नाभिमतं ते शुद्धाशुद्धाद्वैतवर्जिताः
निःप्रतियोगिकाद्वैतिनः इत्यर्थः । अत एव समलोष्टाश्मकाश्चर्याः सर्वत्र
साम्यभावमापन्नब्रह्मदृष्टिवात् ब्राह्मणजातिप्रविभक्तसर्ववर्णेषु चातुर्वर्ण्यधर्माश्रयणतो
ब्राह्मणाब्राह्मणादियु यथातत्काले भैक्ष्याचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैव पश्यन्ति ।
स्वात्मनो व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चाधिकरणत्वेन प्रत्यगाभिन्नब्रह्मरूपत्वात् । अथ जातरूप-
धराः निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणाः शुक्लतेजोनिष्ठं (शुक्लतेजोरूपं)
ब्रह्म इति श्रुत्यनुगोचेन ब्रह्ममात्रभावापन्ना इत्यर्थः । अत एव ते अनात्मापहृव-
सिद्धात्ममात्रनिष्ठाः इत्यर्थः । यदि वहिश्चित्तस्तदा प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले
भैक्ष्याचरन्तः । हंसशब्देन प्रत्यगाभिन्नपरमात्मोच्यते पराक्सापेक्षप्रत्या-
मेदगत्सविशेषाप्राप्यसिद्धः परमः स चासौ हंसश्चेति परमहंसः निःप्रतियोगिक-
परमात्मा तदाचरणं तन्मात्रेणावस्थानं तेन परमहंसाचरणेन स्वातिरिक्तकलना-
संन्यासेन कर्मसंन्यासेन वा देहत्यागं देहोपलक्षितस्वाविद्यापदतत्कार्यजन्तमस्ति
नास्तीति विभ्रमाभिहित्यागं वा ये कुर्वन्ति ते परमहंसा नाम ब्रह्मैव भवन्ति
इत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दो मिश्रकोपनिषत्परिसमाप्त्यर्थः ॥ ९ ॥

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

मिश्रकोपनिषद्ब्राह्मण्या लिखिता ब्रह्मगामिनी ।

मिश्रकोपनिषद्ब्राह्मण्याग्रन्थस्तु त्रिशदीरितः ॥

इति श्रीमदीश्वरायत्तस्तोत्रोपनिषद्भाष्यविरचे षष्टिसंख्यापूर्कं

मिश्रकोपनिषद्विरचनं सम्पूर्णम्

गैद्युपनिषद्

आध्यात्म—इति शान्तिः

संसारविरक्तस्य आत्मविज्ञाया

बृहद्रथो वै नाम राजा रान्ये ज्येष्ठं पुत्रं निषापयित्वेद-
मशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम । स तत्र
परमं तप आस्यायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठति अन्ते सहस्रस्य
मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवामकस्तेजसा निर्दग्निवात्मावेद्भगवा-
ञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत् । स तस्मै
नमस्कृत्योवाच । भावन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्ववित् शृणुमो वयम् । स
त्वं नो ब्रूहीति । एतद्धृत्तं रस्तादराज्यं मा पृच्छ प्रदन्मैस्वाकान्वा-
न्कामान्वृणीष्वेति । ॥ कायन्यस्य चरणावभिमृशमानो राजेमां
गाथां जगाद ॥ १ ॥

संसारविरक्तस्य

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महर्षवानां सिसृरिणां प्रपन्नं
मुक्तस्य प्रचलनं स्थानं वा तद्व्यासं निमज्जनं वृषिभ्याः स्नानाद्व्यासराजं

सुराणाम् । मोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संमारे किं कामोपभोगैरैवा-
श्रितस्यामकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीति अन्धूदपानस्यो भेक
इवाहमस्मिन्संमारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

भगवन्निद्रं शरीरं मैथुनादेवोद्धृतं संविध्यपेतं निरय एव
मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमभ्यभिश्चितं मण्डितं चर्मणावन-
विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोषमाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम् ।
एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ ३ ॥

श्रुत्याचार्योपदेशेन मुनयो यत्पदं विदुः ।

तत्स्वानुभूतिसंसिद्धं स्वमात्रं ब्रह्म भावये ॥

इह खलु मैत्रेयीसंज्ञिकेयमुपनिषत् सामवेदप्रविभक्ता । अतोऽस्या
उपोद्धातादि छान्दोग्यादिवत् ज्ञेयम् । तीव्रतरवैराग्यस्वानुभूतिपारमार्थिकज्ञान-
प्रापिकेयं मैत्रेयुपनिषत् । तस्याः स्वल्पग्रन्थतो विवरणमारभ्यते । बृहद्रथ-
शाकायन्यायाख्यायिका तु वक्ष्यमाणविधास्तुत्यर्था । केयमाख्यायिका इत्यत
आह—बृहद्रथ इति । अस्मिन् शरीरे । “बृहद्रथो वै नाम राजा” इत्यादि “को
न मुच्येत बन्धनात्” इत्यन्तं दृष्ट्वाणीतोऽपिदि अन्यूनाधि[नानधि]-
काक्षरतया तत्र तत्र वर्तते । तच्चाख्यानेनेदमपि व्याख्यातप्राप्तमेव स्यादिति व्याख्या
न विन्यते । बृहद्रथो वै नाम राजा यथोक्तसाधनसंपन्नः सन् स्वीयरज्यादिकं
परित्यज्य महारण्यप्रदेशमास्थाय आदित्यं पश्यन्नुर्ध्वबाहुः विरुक्कलं तपश्चचार ।
तत्तपसा तुष्टो भवान् शाकायन्यमुन्मिन्नुप्रविश्य तदिष्टसिद्धयै चोदितवान् । अथ स
मुनिस्तन्निष्ठं जगाम । स राजा तद्दर्शनमात्रेण सहसा उत्थाय दण्डवत् प्रणमाम् ।
तं प्रणतमुचिष्ठोत्तिष्ठ स्वेप्सितवरं कृणीष्वेति मुनिः प्रवीत् । ततो राजा ब्रह्मविद्यां
याचितवान् । तद्योग्यतापरीक्षार्थं यत् त्वया पृष्ठं मास्तु तत् तस्यानिर्वचन-
ब्रह्मोचरतया वक्तुमशक्यत्वात् अन्यान् कामान् कृणीष्व इति मुनिः
प्रश्नोक्तोऽपि परमार्थतो न विचचार ॥ १-३ ॥

ब्रह्मणः बाबात्म्यप्रकटनम्

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीनोऽब्रवीद्राजानम् । महागज
बृहद्रथेस्त्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यम्वं मरुत्मानो विश्रुतो-
ऽसीत्ययं स्वत्वात्मा ते । कतमो भगवन्वर्ण्य इति । तं होवाच ॥ ४ ॥

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते म्यिताः ।

येषां सक्तस्तु भूतात्मा न सरेच्च परं पदम् ॥ ५ ॥

तपसा प्राप्यते मत्त्वं सत्त्वात्मंप्राप्यते मनः ।

मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥ ६ ॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनौवुपशाम्यति ।

तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनौवुपशाम्यति ॥ ७ ॥

स्वयोनौवुपशान्तस्य मनसः मत्स्यगामिनः ।

इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशात्तगाः ॥ ८ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोषयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो भाति शुद्धमेतत्सनातनम् ॥ ९ ॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुद्धात्मा ॥

प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमन्ययमश्नुते ॥ १० ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्क्रो न मुच्येत क्वचनात् ॥ ११ ॥

अण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम् ।

साक्षिणं बुद्धिनृत्तस्य परमप्रेममोक्षरम् ॥ १२ ॥

अगोचरं मनोवाचामवधूताविसंश्लेषम् ।

सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥ १३ ॥

अत्रैयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम् ।

ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।

निर्विकल्पं निराभामं निर्वाणमयसंविदम् ॥ १४ ॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविमुश्वाद्वितीयः ।

आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।

आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदन्तः ॥ १६ ॥

वर्णाश्रमाचारश्रुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।

वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥ १७ ॥

वर्णाश्रमं सावयवस्वरूपमाद्यन्त्ययुक्तं ह्यतिकृच्छूमात्रम् ।

पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते ॥ १८ ॥

एवं स्वातिरिक्तविषयपराङ्मुखं ब्रह्मविद्यापात्रं मत्वा आदौ ब्रह्मविद्या-
साधनत्वेन ब्रह्मान्तःकरणनिग्रहपूर्वकं श्रवणादिरूपं तप एव मुख्यसाधनं
इत्युपदिश्यते । अतो ब्रह्मयाथात्म्यं प्रकटयितुं भूमिकां रचयति—इदिति ।
मुख्यः संख्यादिपञ्चदोषज्ञान्त्यन्तं सर्ववेदान्तश्रवणं मननं च कृत्वाथ स्वहृदय-
पुण्डरीकमध्ये तु तदाब्दो ब्रह्माभिव्यक्तिरित्यान्तवद्योक्तः । तत्रैव परमो निरति-
शयश्चासौ स्वमात्रतया अवस्थानुमीक्षः समर्थश्चेति परमेश्वरः तं परमात्मानम् ।
“साक्षिणम्” इत्यादि “निर्वाणमयसंविदम्” इत्यन्तविशेषणजातनिर्वास्तिस्वरूपं
निष्प्रतियोगिवत्त्वमात्रमिति भावयेत् ध्यायेदित्यर्थः । तद्विशेषणान्य—साक्षिण-
मिति । स्वात्मैकचित्पादादयस्त्वमित्युक्तं सत्त्वं स्वहृदया तदाभा-

भावप्रकाशकतया साक्षिणं परमप्रेमगोचरं स्वस्मैव सर्वस्मात् पुत्रवित्तादेरपि परमप्रेमास्पदत्वात् ॥ “सर्वस्मात् प्रियतमः” इत्यादिश्रुतेः परः प्रेमाचरन्त्या व्रणादिगोचरता स्यादित्यत आह—अगोचरं मनोवाचामिति । व्रणादिकरणप्राप्त-
प्रसक्तान्वगोचरत्वं न स्वतः निग्रन्थिगोचरमात्रत्वात् यदि ब्रह्म निग्रन्थि-
योगिकं तदा स्वाज्ञानां भवसागरतरणं तद्भावापत्तिर्वा कुतः इत्यन आह—
अवधूताधिसंप्लवमिति । अवधूतश्रुतिस्मृतिस्पर्धादानां स्वाज्ञानमात्रविषयाध्यादिज-
चरजन्तुजुष्टभवसागरप्लवं यद्वा अवधूतस्वाज्ञानानां ब्रह्मविदां भवसागरतरणोपाय-
भूतसंप्लवस्थानीयापरब्रह्मरूपमतीत्य वर्तेत इत्यवधूताधिसंप्लवः तं निर्विशेषप्रमात्मान-
मित्यर्थः । तत्र हेतुः सत्तामात्रप्रकाशकैकस्वभावमिति स्वादिष्टित्वात् ॥ १० ॥
र तामात्रतया प्रकाशतीति रक्षादादृष्टादृष्टा एव एकं मुख्यं स्वभावो यस्य तथोक्तम् ।
एवं भावनास्पदत्वात् साकल्यापत्तिस्तत्राह—भावनातिगमिति । एवं भावनाहेतु-
तूलाविद्यासंभवात् स्वाविद्याविद्यात्मकतूलाविद्यापाये यदवशिष्यते तद्रूपं किं हेयं
यद्वा उपादेयं अथवा सामान्यं आहोस्वित् विशेषमिति ॥ तत्र नाद्यः— स्वाविद्या-
पदतत्कार्यस्थूलांशस्य हेयत्वेन तत्कल्पापहवसिद्धस्य अहेयत्वादहेयः । तं न
द्वितीयः तत्सूक्ष्मांशस्य दृश्यत्वेनापादानुं शक्यत्वात् तदपहवसिद्धोऽ-
पादेयः । तं न
तृतीयः तद्दीर्घांशस्याव्यक्तप्रकृतिरूपत्वेन सामान्यरूपत्वात् तदपहवसिद्धोऽ-
सामान्यः । तं नापि चतुर्थः तत्तुरीयांशस्य साम्यविद्यारूपत्वेन विशेषरूपत्वात्
तदपहवसिद्धोऽविशेषः । तं एवं स्वाज्ञानानुभूतिसिद्धस्वाविद्यापदापहवतः अनु-
बोध्यमात्मा भवितुमर्हति इत्यत आह—ध्रुवमिति । आदिष्टादृष्टस्य स्वाज्ञानानुभूत्या
अधुक्तत्वं तदपहवसिद्धस्य ध्रुवत्वं निरङ्कुशमित्यर्थः । अत एव निमित्तमीरं
मन्स्तरं चिदर्णवरूपत्वात् चिदर्णवत्वे तर्किते तेजः उत तमः यद्वा तत्वं नाद्यः
भक्तिरित्येतसोऽन्वाद्य तेषः न द्वितीयः सत्त्वगुणस्यो ग्रस्तत्वात् तमः न
तृतीयः व्याप्यसामान्याभावान्नपि तत्तं उक्तविकल्पतदामासयोरपहवात् तद्विज्ञानं
निरामासं यदेवं तदात्म्यं किं इत्यत आह—निर्वानमवचसंविदमिति ।
निर्वानमयं विवेकस्वरूपं न ह्यत्र मयदृष्टो विकारप्रत्ययविभाव्यौ
तदपहवसिद्धत्वं संवित्स्वरूपत्वं पूर्णबोधस्वरूपं “सर्वं ज्ञानमन्तं”, “विज्ञान-

मानन्दं ब्रह्म”, “कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते” इत्यादिश्रुतेः ॥ एवं गजा शाकायन्यमुखतः ब्रह्ममात्रावगतिमवगम्य चिरं समाधिनिष्ठो भूत्वा ब्रह्मविद्या-संप्रदायाविच्छेदाय स्वानुभवं प्रकटयामासेत्याह—नित्य इति । नित्यः काल-त्रयावाव्यत्वात् शुद्धः अशुद्धस्वाज्ञानापायात् बुद्धः पूर्णबोधस्वरूपत्वात् मुक्तस्वभावः स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमतः इत्यर्थः । सत्यः पारमार्थिकसद्रूपत्वात् सूक्ष्मः निर्विशेषतया केशकोट्येकांशवत् सुसूक्ष्मरूपत्वात् संविभुश्च परिच्छेद-त्रयाभावात् अद्वितीयः स्वप्रतियोगिद्वैतस्य मृग्यत्वात् चशब्दो निप्रतियोगिकत्व-ख्यापनार्थः निस्तरङ्गानन्दाब्धिः पूर्णानन्दसमुद्रत्वात् यः सर्वस्मात् परः परमात्मा सोऽहमस्मि स एव भवामि पराकप्रपञ्चे सति कथं परमात्मा भवसीत्यत आह—प्रत्यग्धातुरिति । पराकप्रपञ्चप्रातिलोम्येनाञ्चनात् प्रत्यक्चासौ धातुश्चेति प्रत्यगभिन्नपरमात्माऽस्मीत्यत्रास्मिन्नर्थे न हि संशीतिः संशयोऽस्ति वस्तुतः प्रत्यक्पर इति विभर्ग्यव्यासहनिप्रतियोगिकब्रह्ममात्रत्वात् स्वातिरिक्तप्रपञ्चापदः सत्त्वात् कथमेवं भवसीत्यत आह—आनन्दमिति । स्वान्तर्दृश्ये निजं पारमार्थिक-सद्रूपमानन्दं सच्चिदानन्दं ब्रह्म स्वमात्रमित्याश्रयन्तमनवरतं भावयन्तं स्वाति-रिक्ताशासत्त्वात् कथं तदाश्रयणं इत्यत आह—आशेति । स्वातिरिक्तमस्तीत्याशैव पिशाची तां ब्रह्मातिरिक्तं नैत्यवमानयन्तं अपह्वं कुर्वन्तं स्वातिरिक्तजगत्प्र-तीतौ कथमेवं इत्यत आह—आलोक्यतीति । किं तत् पदे पदे जन्मस्थिति-भङ्गं गच्छतीति जगत् इन्द्रजालं मायामात्रं इत्यालोकयन्तं तत्राप्यसङ्गं मामेतादृशं कथं स्वातिरिक्तास्तितारूपेयमापत् स्वच्छद्विप्रमाणसिद्धापि कस्तुमत्र-दृष्टिं प्रविशेदित्यर्थः । वर्णाश्रमाचारव्यवस्थायां सत्यां कथमेवं सिध्यतीत्याशंस्य स्वातिरेकेण वर्णाश्रमाव्यस्तीति ये मन्यन्ते त एव बध्यन्ते तद्विपरीताः तद्भ्रमो मुच्यन्त इत्याह—वर्णेति । ब्रह्मक्षत्रादिः वर्णः ब्रह्मचर्यादिराश्रमः तत्रात्म-त्वीयाभिमानयुता ये ते मूढाः स्वातिरिक्तास्तितामूलस्वज्ञानारूढदृष्टित्वात् स्वस्वमावाञ्छन्तमन्तरेण फलपुत्वेन भोगतो यद्विहीयते तत् स्वर्गनरकादिकं फलं क्षणमभ्युपगमन्ते घटीयन्तदविश्रान्तं जन्ममरणे अनुभवन्ति हि वे तद्विपरीताः कथं तत् तद्विपरीतमिति त्वञ्जन्तः सन्तः तत्यागाविकारण-

मानन्दोत्पत्तिभावेन तृप्ता भूत्वा स्वेन रूपेण सर्वत्र पूरणात् पुण्याः ब्रह्म
भवन्तीत्यर्थः । उक्तार्थमेव पुनर्विशदयन्तुपसंहरति—वर्णाश्रममिति । वर्णा-
श्रमविशिष्टं शरीरं कर्त्तव्यव्यवस्वरूपं आदिः उत्पत्तिः अन्तो नाशः
ताभ्यां युक्तं हि यस्मात् अनिकृच्छ्रमात्रं कष्टमात्रपर्यवसानं तत्र स्वदेहं
पुत्रादिदेहेष्वपि आत्मात्मीयाभिमानशून्यं मनः कृत्वा स्वयं विद्वान्
सर्वापि वसिष्ठनिश्रुतिश्रौतब्रह्ममात्रं भूत्वा अगण्डानन्दतः सौख्यतमे
परिच्छेदत्रयाभावादनन्ते स्वे महिम्नि वसेत् । इति शब्दस्तु प्रथमाध्याय-
परिसमाप्त्यर्थः ॥ ४-१८ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः

मैत्रेयं प्रति महादेवस्य उत्प्रेक्षः

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच । यो
भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः ॥ १ ॥
देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥ २ ॥
अमेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥ ३ ॥
ब्रह्मामृतं पिबेद्ब्रह्ममाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिके भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
तत्त्वमाचरेद्दीमान्स एव मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ४ ॥

मैत्रेयः पराशरमुखाद्विदितत्त्वाऽपि सर्वलोकप्रत्ययजननार्थं कैलासं गत्वा
 यथाविधि तन्मुखात् परमत्त्वरहस्यबुभुत्सया विधिवत् पप्रच्छेत्याह—अथेति ।
 मुनिना पृष्ठः स होवाच महादेवः। किमुवाच इत्यत्र देहजीवयोः शिवाख्य-
 शिवदृष्ट्या स्वाज्ञाननिर्मात्यविसर्जनपूर्वकं यः सोऽहंभावेन पूजयेत् स शुक्तो
 भवतीत्याह—देह इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १-४ ॥

शौचविधानम्

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम् ।

सुखदुःखालयामेघ्यं स्पृष्ट्वा ज्ञानं विधीयते ॥ ५ ॥

घातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।

विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा ज्ञानं विधीयते ॥ ६ ॥

नवद्वारमलखावं सदा काले स्वभावजम् ।

दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा ज्ञानं विधीयते ॥ ७ ॥

मात्रा सूतकसंबद्धं सूतके सह जायते ।

मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा ज्ञानं विधीयते ॥ ८ ॥

अहंममेति विष्णुत्रलेपान्वादिलोचनम् ।

शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥ ९ ॥

देहे देवोपभोगदेवाख्यादिदृष्टिं किं आत्मात्मीयमिमान्तो देहस्या-
 स्पृश्यत्वेनाशुक्तिवं तद्ब्रह्मज्ञानादिशुद्धोदक्षालनाच्छुक्तिवं स्यादित्याह—जातमिति ।
 अत्र यदि कदाचित् आत्मात्मीयमिमानेन देहं स्पृशति तत्र आत्मात्मीयमि-
 त्स्याग एव ज्ञानं विधिचोदितं इत्यर्थः । “ज्ञानं मनोमध्यमाः” इत्युक्तत्वात् ।
 किं च—नतन्मममिति । वातमिदमिति । देहं च नमरोमान्तरात् । किं च—

नबद्धारेति । सूतकेन सह जायत इत्यर्थः । “ ज्ञानस्य हि ध्रुवो मृत्युः ” इति स्मृतिः । तच्छौचप्रकारमाह—अहमिति ॥ १-९ ॥

चित्तशुद्धिः

चित्तशुद्धिकरं शौचं वामनात्रयनाशकम् ।

ज्ञानवैराग्यमृत्तार्यैः क्षालनात् शौचमुच्यते ॥ १० ॥

अद्वैतभावना मैसमभस्यं द्वैतभावनम् ।

रुशालोक्तभावेन मिश्रमैसं विधीयते ॥ ११ ॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यामानन्तरं मृतः ।

कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्भूतो वसेत् ॥ १२ ॥

एवं शौचतः किं स्यात् इत्याशङ्क्य वासनात्रयक्षयपुरस्सरं चित्तशुद्धिः स्यात् इत्याह—चित्तेति ॥ “ ब्रह्ममृतं पिबेद्भूतं ” इति यदुक्तं तदनेन मन्त्रेण विशदयति—अद्वैतेति ॥ इत्यभूतो मिश्रः कासनमहेनीत्याशङ्क्य ज्ञानचरदेहात् बहिरेव चरेदित्याह—विद्वानिति ॥ १०-१२ ॥

अहंकाराद्विग्रहः

अहंकारमुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम् ।

आशापर्वी त्यजेद्याक्ताक्नमुक्तो न संशयः ॥ १३ ॥

ब्रह्मदापुत्रादित्यगमात्रेण मुक्तिर्नास्तीति शङ्कादिभ्यामनेत्याह—ब्रह्मदापुत्रादित्यगपूर्वकं अहंकारादित्यगमेनैव मुक्तिः स्यात् इत्याह—अहंकारेति । ब्रह्मान्तः-संन्यास्ताभ्यामेव मुक्तिः स्यात् नान्यत्तत्प्राप्तः इत्यर्थः ।

“ विष्णुलिङ्गं द्विषा प्रोक्तं व्यक्त-व्यक्तमव च ।

तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥ ”

इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

कर्मत्यागः

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।

मृतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संख्यामुपासते ॥ १४ ॥

हृदाकाशं चिदादित्यः सदा भासति भासति ।

नास्तमेति न चोदेति कथं संख्यामुपासहे ॥ १५ ॥

एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम् ।

एतदेकान्तमित्युक्तं न मठं न वनान्तरम् ॥ १६ ॥

संख्यादिकर्मन्यागतः प्रत्यवायी स्यात् इत्याशङ्क्य स्वाज्ञानहानात् स्वज्ञानोदयतः चिदादित्यस्य उदयास्तमनाभावाच्च संख्यादिकर्मकरणानुपपत्ति-
माह—मृतेति द्वाभ्याम् । रवेरुदयास्तमनयोः किल कर्म कर्तव्यम् । “एवंविदश्चिदा-
दित्यस्य उदयास्तमनाभावात् सर्वकर्माभावः” इति श्रुतेः “वसेदेकान्तिको
भूत्वा” इति यदुक्तं तदेकान्तस्वरूपं विशदयति—एकमेवेति ॥ १४—१६ ॥

मुख्यसंन्यासः

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसां ।

न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमानुयाह ॥ १७ ॥

कर्मत्यागाच्च संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु ।

संघौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

“देहो देवालयः” इत्यादि मया यदुक्तं तत्रासंशयवतां मुक्तिः न हि
संशयवतां इत्याह—असंशयेति ।

“नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।”

इति स्मृतेः । प्रैषः कर्मत्याग एव मुख्यसंन्यासः इत्याशङ्क्य चावपरदेवत्याग
एव मुख्यसंन्यास इत्याह—कथ्येति ॥ १७, १८ ॥

संन्यासाधिकारी

वमनाहारवद्यस्य भवति भवेवणादि ।

तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहामिमानिनः ॥ १९ ॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं भवेष्टु वस्तुषु ।

तदैव संन्यसेद्वेदज्ञानव्या पतितो भवेत् ॥ २० ॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा ।

संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्नुमर्हति ॥ २१ ॥

संन्यासाधिकारी कीदृशः इत्याशङ्क्य यस्य वान्ताशनमूत्रपुरीषादिवन्
बाह्यार्थेषु हेयतोदेति स एव संन्यासाधिकारीत्याह—वमनेति ॥ संन्यास्मूलं
किं इत्याशङ्क्य स्वातिरिक्तविषयताव्रतवैराग्यमेवेत्याह—यदेति ॥ निमित्तान्त-
रेणापि संन्यासकरणं श्रेयः इत्यत आह—इत्यादि ॥ १९-२१ ॥

मुक्तिं प्रति साधनान्तराणि

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम् ।

अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २२ ॥

तीर्थमन्त्रशास्त्रतत्त्वचिन्तनं मुक्तिं प्रति समानसाधनं इत्यत आह—
उत्तमेति । परस्परोपायोपेक्षया मुक्तिसाधनं एतत्तुष्ट्यं न समानमित्यर्थः ।
तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा इत्यत्र तिष्ठोपस्थानन्दसः ॥ २२ ॥

अनुमनः

अनुमूर्तिं किं मूढो वृषा ब्रह्मणि मोदते ।

प्रतिनिविष्टो साधनशून्यस्तदनुमोदकः ॥ २३ ॥

न त्यजेच्चैर्निर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम् ।

त्रैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २४ ॥

केवलशास्त्रज्ञानादेव ब्रह्मावाप्तिः किमनुभवं इत्यत आह—अनुभूति-
मिति । अस्मि ब्रह्मेति शार्त्त्राप्तज्ञानं परोक्षं, अहं ब्रह्मेत्यपरोक्षज्ञानमनुभवात्मकं
ब्रह्ममात्रज्ञानस्य स्वानुभूतिप्रमाणसिद्धत्वात् । इत्थंभूतानुभूतिं विना ब्रह्मानुमोदनं
जलप्रतिबिम्बितफलास्वादनवत् न हि कार्यकर्ता भवतीत्यर्थः । श्रद्धामक्ति-
ज्ञानवैराग्यपुग्गसं अद्वैतभावनाभ्यान्तर्गमाधूकभजनं यः करोति स यतिर्मुक्तो
भवतीत्याह—न त्यजेदिति ॥ २३, २४ ॥

परमरहस्योपदेष्टाः

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च ।

ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥ २५ ॥

मन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः ।

परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २६ ॥

पाषाणलोहमाणेष्टुन्मयविग्रहे पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः ।

तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्वाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भावाय ॥

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवान्वरे ॥ २८ ॥

मा भव ब्राह्मभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।

भावनामसिलां त्वत्त्वा वच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ २९ ॥

द्रष्टृदर्शनद्वयानि त्यक्त्वा कलन्त्या सह ।

रत्नप्रथमाभारतमात्मानं केकटं भव ॥ ३० ॥

धनादिवृद्धेभ्यो ज्ञानवृद्धं मर्हाकरोति-धनेति । स्वज्ञानिनं “ज्ञानं त्वान्मेव मे मतम्” इति स्वोक्त्यनुगोचेन मर्हाकृत्य तद्विपगतत्वाच्च जन्म त्रिगुणि निन्दति मदिति मन्माययेति । मूयंजपि ये मां न जानन्ति तेषां जन्म अजगलस्तनवद्व्यर्थमित्यर्थः । “सोऽहंभावेन पूजयेत्” इति यदुक्तं तत्र स्वभेदधिया कृतवाङ्मयपूजापुनर्भवकर्तारि निन्दनपूर्वकमभेदपूजनं स्वपदप्राप्तकामिनि मूर्तेति—पाषाणेति । परमतत्त्वग्रहण्यमनुब्रूहीति यत् पृष्ठं तत्र स्वस्य स्वातिरिक्तस्य च नियन्त्रित्योगिकपुण्यत्वं शून्यत्वं च सदृशान्नं प्रतिपादयति—अन्नगिति । अण्वाम्बुगमश्रुपतिनपुण्यशून्यकुम्भ इव स्वयमन्नबोहिग्नन्गण्डेति पूर्णः अन्नबोह्यान्तगलकलनाभावात् तथा स्वातिरिक्तमन्त्राद्यान्तरालकलनाशून्यं स्वातिरिक्तयोर्नियन्त्रित्योगिकभावाभावरूपत्वात् प्राह्यप्राहकृत्या सविध्यकरणप्राप्तप्राद्वि-त्रिपुटिमत्वात् कथं स्वातिरिक्तयोर्भावाभावरूपतेत्याशङ्क्य परमार्थतो ब्रह्मातिरिक्तं नास्त्येव यदि स्वाङ्गदृष्ट्या तन्प्रमत्तिस्तदा प्राह्यप्राहकादिकलनाविशिष्टप्राद्वि-नानात्रिपुट्यपहवसिद्धं ब्रह्म स्वमात्रमिति भजेत्याह—मा भवेति ॥ २९-३० ॥

विदेहमुक्तस्य स्थितिः

मंशान्तमर्वसंकल्प्या या शिलावदवस्थितिः ।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥ ३१ ॥

प्राह्यं विषयजातं प्राहकं करणजातं त्रिपुट्यादिसर्वव्यापृतप्रथमामासं प्रत्यक्षं पराम्भावापहवसिद्धपरमात्मानं केवलं निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति हे मैत्रेय तन्मात्रं भव तदेव भवेत्यर्थः । तन्मात्रावस्थिते विदेहमुक्तस्य स्थितिः कीदृशी इत्यत आह—संशान्तेति । यस्यां स्वातिरिक्तज्ञानविषयगोचरसर्वसंकल्पः शान्त अपह्वं गतः सैव संशान्तसर्वसंकल्प्या या पीपरी शिलावत् स्थिः अवस्थितिः या जाग्रन्निद्रोपलक्षितव्यष्टिसमष्टिजाग्रदप्रसन्नविकल्पानुसृष्टसंशान्त-तन्मात्रसंकल्पनाविनिर्मुक्ता यत्प्रबोधसम्पन्नपहवतां गता सैव परा काष्ठ-स्थितिः स्थितिः स्थितिः स्वस्थितिः सत्यसति सैक्येकस्वभाव-

शिष्यते । परमशिवोपदेशमहिम्ना मैत्रेयः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इतिशब्दः
शिवोपदेशपरिसमाप्त्यर्थो द्वितीयाध्यायपरिसमाप्त्यर्थश्च ॥ ३१ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

मैत्रेयस्य स्वानुभवप्रकटनम्

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम् ।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥
अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम् ।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥
विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥
मानावमानोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ।
द्वैतद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ४ ॥
भावाभावविहीनोऽस्मि भाषाहीनोऽस्मि भात्यहम् ।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि क्लिप्तः शुद्धः सदाशिवः ।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदात्यहम् ॥ ६ ॥
एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च ।
सकलद्वेन्द्वहीनोऽस्मि संकलपरहितोऽस्म्यहम् ॥ ७ ॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविभक्तः ।

नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ ८ ॥

आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् ।

बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि शुद्धं ब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ९ ॥

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परान्तरः ।

सदा विचारोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ १० ॥

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः ।

ध्यातव्यविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥ ११ ॥

सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।

सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः ॥ १२ ॥

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।

मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥ १३ ॥

न जगत्सर्वं ज्ञास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम् ॥ १४ ॥

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।

सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुखमोऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥

मुदिताद्युदिताख्योऽस्मि सर्वमानकलोऽस्म्यहम् ।

नित्यं विन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिदानन्दः ॥ १६ ॥

वात्कचिद्विहीनोऽस्मि स्वल्पमप्यपिनित्यन्दः ।

हृदयमनोऽस्मि हृदयमनोऽस्म्यहम् ॥ १७ ॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
 अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्नरादन्तरोऽस्म्यहम् ॥ १८ ॥
 देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
 नाग्निनास्तिविमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम् ॥ १९ ॥
 अम्बुण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्रस्वण्डाकारमस्म्यहम् ।
 प्रपञ्चमुक्तवित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥ २० ॥
 सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
 कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥ २१ ॥
 कायकायिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
 मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥ २२ ॥
 सत्यामत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्राज्ञास्म्यहं सदा ।
 गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥ २३ ॥
 सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
 एवं स्वातुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ॥ २४ ॥
 यः शृणोति सकृदपि ब्रह्मैव भवति म्वयम् ॥ २५ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

अथ भगवान् मैत्रेयः परमशिवमुखतः परमस्तत्त्वरहस्यं निष्प्रतियोगिक-
 ब्रह्माज्ञानं यथावदकाम्य स्वातिरिक्तास्तिताभ्रमविरलब्रह्मात्रमावास्तुर्ऽपि
 ब्रह्मैवाचार्यपरमशिवसंकाशपञ्चान्न बहिष्ठः प्राणिपटलपुण्योद्देकाच्च पञ्चवणादि-
 मात्रेण स्वाज्ञोक्तः स्वज्ञो मूत्वा परमार्थज्ञानसमकालं विदेहमुक्तो भवेत् तदा
 तत्परमशिवोपदिष्टस्वानुभूतार्थं ब्रह्मविद्यासंप्रदायस्यापनार्थं वा यथोक्तधिकारिण
 ज्ञेयं स्वातुभवं प्रकृत्यामासेतान्ह—महमस्मीति । देहान्तरव्यासः

प्रत्यगस्मिच्छन्देनोच्यते स्वान्तरवस्थितपराक्प्रपञ्चापेक्षया अहं प्रत्यगस्मि
 देहद्वहिर्विलसितप्रपञ्चापेक्षया परश्चास्मि । चण्डः प्रत्यक्परयोर्गोपाधिकभेद-
 निरसनार्थः प्रत्यक्परभेदापेक्षया प्रत्यगभिन्नब्रह्मास्मि स्वाङ्गदृष्ट्या जीवेगादिरूपेण
 प्रमवामीति प्रमवोऽस्म्यहम् । किं च—सर्वेति । ईश्वररूपेण सर्वलोकोऽस्मि ।
 चण्डः माक्ष्यप्यस्मीति द्योतकः । वैराग्यरूपेण सर्वलोकोऽस्मि विराजो
 ब्रह्माण्डकायत्वात् वस्तुतो यः सर्वकलनापहवसिद्धः सोऽस्म्यहं निरग्रतियोगि-
 कत्वात् । किं च—अहमिति । स्वेन रूपेण सिद्धः अशुद्धः स्वाज्ञानज्ञानाच्छुद्धः ।
 शिष्टमुक्तार्थम् । किं च—अहमस्मीति । यः सदैकरसः सोऽस्मि अनित्यमल-
 प्रपञ्चहानाभित्योऽस्मि विमलोऽस्मि । नित्यविव्रान्तिरूपतो विज्ञानोऽस्मि ।
 यस्माच्छेषशेषिभावो विगतः सोऽहं विशेषोऽस्मि । म्द्वरूपेण उभया सहितः
 सोमोऽस्मि चतुष्पष्टिकलावर्दाभ्यामेदेन सकलोऽस्म्यहं । आदिद्राष्टान्त्योऽ-
 षड्रज्यादिषिष्टद्रुत्रामेदेन वा सकलोऽस्मि । किं च—शुभ इति । निवृत्तिमार्ग-
 गम्यत्वाच्छुभः शोचनीयविषयाभावाच्छोकोहीनः ब्रह्मदेहादिविभक्तत्वा-
 चैतन्योऽस्मि नानापाधिषु विषयेष्वपि सर्वान्तर्याम्यादिरूपेण समः मानव-
 मानवृत्तिमतूलाविद्याप्रख्यान्मानावमानहीनोऽस्मि सत्त्वादिगुणाभावाभिर्गुणोऽस्मि
 स्वातिरिक्ताशिवाभावाच्छिवोऽस्मि । किं च—द्वैताद्वैतेति । प्रवृत्तिमार्गसिद्धं द्वैतं
 निवृत्तिमार्गसिद्धमद्वैतं स्वातिरेकेण प्रवर्तनीयनिवर्तनीयस्वाविद्यापदत्तकार्याभावात् ।
 द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि शीतोष्णोदिद्वन्द्वमाभावात् । द्वन्द्वहीनोऽस्मि बाह्यन्तः-
 करणोचरसदसत्प्रपञ्चवैरल्यात् भावाभावनिहीनोऽस्मि कर्माणब्रह्मरूपत्वात्
 भाषाहीनोऽस्मि स्वयं द्वैताद्वैतत्वात् आस्म्यहम् । किं च—शून्येति ।
 शून्यं स्वातिरिक्तं अशून्यं स्वयं द्वयमपि यत्प्रभावसिद्धं सोऽहं शून्याशून्य-
 प्रभावोऽस्मि विद्यतत्कार्यं ज्ञोमनं अविद्यतत्कार्यमज्ञोमनं स्वमादच्छवा
 तद्वयमस्मि शून्यं समं अशून्यं विषयं तद्वयमस्मि तद्वयमस्मि तद्वयमस्मि ।
 निमः कुदो व्याख्यातम् । स्वमादच्छवाहे सत्यसति सदैव निमः परम-
 तत्त्वैत्युक्तत्वात् । किं च—सर्वोऽस्मि । तद्वयमस्मि तद्वयमस्मि तद्वयमस्मि ।
 वैश्वानर स्यादित्युक्तिरिति । सात्त्विकोऽस्मि । वस्तुतः सदा निर्गुणो-

ऽस्म्यहं एकसंख्याविहानोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च सापेक्षैकद्वयाभावात्
 “एकामवे द्वितीयं न न द्वितीयेन चैकता” इति श्रुतेः । सदसद्देहहीनोऽस्मि
 चाक्षुषाचाक्षुषपदार्थाभावात् । संकल्परहितोऽस्म्यहं तद्वेतुमनसो मृत्यत्वात् ।
 नानात्ममेदहीनोऽस्मि घटशरावादिस्थानीयनानोपार्थानां मेदभित्त्वेऽपि तद-
 वच्छिन्नाकाशास्थानीयप्रत्यगात्मनो निर्भेदरूपत्वात् । अहं हि अहमेव अखण्डा-
 नन्दविग्रहः निस्तगङ्गानन्दसागरत्वात् । स्वानिर्गुणं नाहमस्मि न च तस्मा-
 दन्योऽस्मि स्वानिर्गुणस्य शशविषाणवदवस्तुत्वात् । देहादिप्रसक्तो देहादि-
 र्गितोऽस्म्यहम् आश्रयमविद्याण्डं तद्वत्भुवनजातमनाश्रयि तदुभयाभावात् ।
 आश्रयाश्रयिहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम् स्वस्यैव सर्वाधारत्वात् ;
 स्वाधेयाभावतो वा आधारत्वरहितः । बन्धमोक्षविहीनोऽस्मि देहादावहंभावो
 बन्धः ; तदहंभावामावो मोक्षः, विदेहमुक्तत्वात् । तद्वहितः शुद्धं ब्रह्मास्मि
 सोऽस्म्यहम् । उक्तार्थम् । चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि चित्ताद्यन्तःकरणतद्वृत्तिसहस्रा-
 भावात् परमोऽस्मि परान् परः परं अक्षरं तस्मादपि परः परमाक्षररूपत्वात् ।
 सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ज्ञानाज्ञानवृत्तिमदविद्या-
 तुर्यादिभागचतुष्टयवैरल्यात् । अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः
 प्रणवार्थत्वेन चिरन्तनत्वात् । ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि
 सोऽस्म्यहम् ध्यात्रादित्रिपुट्यभावात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मना सर्वत्र पूर्णरूपोऽस्मि ।
 अनृतादिप्रपञ्चपूरणात् तयत्त्वशंकायां सच्चिदानन्दलक्षणः सत्यज्ञानानन्द-
 स्वरूपत्वात् । सार्धत्रिकोटिसर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि तीर्थानामपि तीर्थरूपत्वात्
 तद्वत्त्वात् । शिवः देहादेः परतरत्वात् “ब्रह्मैव परमात्मा” इति श्रुतेः ।
 लब्ध्वालक्ष्यविहीनोऽस्मि लक्ष्यं मूर्तिं लक्षणैकसिद्धं वा तद्विपरीतं अलक्ष्यं
 अमूर्तिं लक्षणासिद्धं वाच्यं वा तत्सर्वकलनाविहीन इत्यर्थः । लब्ध्वालक्ष्यविहीनोऽस्मि
 लब्धो नास्ति तद्विहीननित्यानन्दरसोऽस्मीत्यर्थः । सावृत्माचित्तीनोऽस्मि मेयहीनः
 तद्वत्त्वात् । मात्रादित्रिपुट्यन्योऽस्मि । न तद्वत्त्वात् । ज्ञानाहं किं
 तु तद्वत्त्वात् । सर्वसाक्षितत्वात् । नेत्रादिरहितोऽस्मि नेतृत्वं प्रेषितृत्वं
 आदिप्रत्ययेन यासक्तत्वादिरुच्यते ; नेतृत्वमासक्तत्वादिरुच्यते । नेतृत्वमासक्तत्वादिरुच्यते ।

मुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् निग्रहयोगिकनिग्रहपञ्चरूपत्वात् । सर्व-
 प्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् प्रकाशमात्रतया चिन्मात्रज्योती-
 रूपत्वात् । कालत्रयकलनाविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् अमनस्क-
 रूपत्वात् । कायकायिविमुक्तोऽस्मि कायतदवच्छिन्नजीवाभावात् । निर्गुणः
 व्याख्यातं कंबलोऽस्म्यहम् अशेषविशेषशून्यत्वात् । मुक्तिर्हीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि
 मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा पारमार्थिकबन्धाभावात् मुक्तिर्हीनः स्वाङ्गदृष्ट्या
 बन्धप्रसक्तो स्वङ्गदृष्ट्या मुक्तोऽस्मि परमार्थदृष्ट्या बन्धमोक्षकलनाविरलब्रह्मात्र-
 त्वात् । सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सापेक्षसत्यासत्यापह्नवसिद्धपारमार्थिकसत्यत्वात् ।
 सन्मात्रात् अन्यत् नास्म्यहं सदा सन्मात्रमेव स्यां इत्यर्थः । गन्तव्यदेश-
 हीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः पूर्णरूपत्वात् । सर्वदा-सच्चिदानन्दत्म्ना
 नामरूपवैषम्येऽपि समरूपोऽस्मि वस्तुतः स्वातिरिक्तस्वतन्त्रोऽस्मि पुरुषोत्तमः
 क्षराक्षरकलनाविरलपरमाक्षरत्वात् एवं ममेवेशभावापत्त्या यस्य स्वानुभवो
 भवति सोऽहमस्मि इत्यत्र न हि संशयोऽस्ति । एवं परमशिवभावमापन्नमैत्रेयमुनः
 स्वानुभूतिवैभवं सकृद्वापि यः शृणोति सोऽयं स्वयमेव ब्रह्म भवति ।
 इत्युपनिषच्छब्दः मैत्रेय्युपनिषत्सामान्यार्थः ॥ १-२५ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः

श्रीवासुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।
 मैत्रेय्युपनिषद्दीक्षा लिखितेशप्रसादतः ।
 मैत्रेय्युपनिषद्दीक्षा षष्ठ्यध्विद्विज्ञातात्मिका ॥

इति श्रीमदीश्वराद्योत्तरतोपनिषच्छास्त्रविरजे मैत्रेय्युपनिषद्विरचितं सम्पूर्णम्

याज्ञवल्क्ये पट्टेत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

संन्यासविधिः । सन्यासविद्यायाः

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन्
संन्यासमनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य
गृही भवेत् । गृहात् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वनरथा ब्रह्मचर्या-
देव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको
वास्नातको वा उत्सन्नाभिरनभिको वा कदहरेव प्रव्रजेत्कदहरेव
प्रव्रजेत् ॥ १ ॥

आदि शान्तिः—आदि शान्तिः

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । अथवा न कुर्यात् ।
आग्नेयामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणैवेत्या करोति ।
अग्नेयामेव कुर्यात् । एतमेव त्रयो घातको कर्तुं सत्त्वं रजस्तम
इति ।

अयं ते योनिर्ऋन्विथो यतो जातो अरोचथाः ।

नं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन अग्नेः प्रविष्टिर्वाच्यते । एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं
गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥ २ ॥

निगमिक्रमं न्यानां विधिः

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यदग्निं न विन्देदप्सु
जुहुयान् । आपो वै सर्वा देवताः । मर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि
स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात्सान्ज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रै-
श्चर्येवं विन्देत् । तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम् । शिखां यज्ञोपवीतं
छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै
याज्ञवल्क्यः ॥ ३ ॥

ब्राह्मणस्यैव संन्यासेऽधिकारः

अथ हैनमग्निः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । अयज्ञोपवीती कथं
ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोप-
वीतं य आत्मा प्राश्याचम्य अयं विधिः ॥ ४ ॥

संन्यासेऽनधिकृतानां कर्तव्यविरूपणम्

अथ परिव्राड्विकर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही
भैक्षमाशो ब्रह्मभूयाय भवति । एष पन्थाः परिव्राजकानाम् ।
वीराध्वाने वानाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा ।

एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तप्तेनेति संन्यासी ब्रह्मविदिति । एवमेवैष
भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य ॥ ५ ॥

पारमहंस्यग्रस्य सर्वोच्छ्रिता

तत्र परमहंसा नाम सर्वकारुणिकेतुदुर्वात्मकमुनिद्रावदत्तात्रेय-
शुक्लामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचाग अनुन्मत्ता
उन्मत्तवदाचरन्तः ॥ ६ ॥

माम्बरपरमहंसलक्षणम्

परस्त्रीं रपराङ्मुखाः त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तमात्रं जलपवित्रं
शिखां यज्ञोपवीतं वहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्या-
त्मानमन्विच्छेत् ॥ ७ ॥

दिग्भरपरमहंसलक्षणम्

यथाजातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः तत्त्वब्रह्ममार्गे
सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंवारणार्थं यथोक्तकाले विमृक्तो
भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्ड-
लूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुः
अबाधकरः स्थलस्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार-
देवगृहः णकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालादिभोजनशालानदीप्रुलिनगिरि-
हरकोटरकन्दरनिर्झरम्यण्डिलेष्वानेकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभ-
कर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥ ८ ॥

संन्यासज्ञानसंपन्ना यान्ति यद्वैष्णवं पदम् ।

तत्त्रैपदब्रह्मतत्त्वगमचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु शुद्धयुर्वेदप्रविभक्त्यं याज्ञवल्क्योपनिषत् पारमहंस्यधर्मपूग-
प्रकटनव्यप्रा निर्विशेषब्रह्मतत्त्वपर्यवसन्ना विजृम्भते । अन्याः स्त्रल्पप्रस्थतो
विवरणमागम्यते । जनकात्रियाज्ञवल्क्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेयमाख्यायिका विद्यास्तु-
न्यथा । आख्यायिकामवतारयति—अथेति । अथ वर्णाश्रमधर्मश्रवणानन्तरं
जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ । किमिति—भगवन् संन्यासलक्षण-
मनुब्रूहीति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेन्
इत्यादि परमहंसो नामेयन्नं प्रायशो जात्रालोपनिषदि पदशो व्याख्यातम् ॥ १-८ ॥

संन्यासिनः परमेश्वरत्वम्

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिज्ञाषी लक्ष्यालक्ष्य-
निर्वर्तकः परिब्राट् परमेश्वरो भवति । अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥ ९ ॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि ।

तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥ १० ॥

प्रमादिनो बहिःश्रित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः ।

संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥ ११ ॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये ।

प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥ १२ ॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।

प्रणमेद्दण्डवद्भावमाश्वचण्डालोत्तरम् ॥ १३ ॥

उक्तलक्षणलक्षितः परिब्राट् परमेश्वर एवेत्याह—अथेति । लक्षणया
बोद्धव्यं लक्षणं तद्विपरीतं अलक्षणं समाहितासमाहितावस्थाभ्यां तदुभयनिर्वर्तकः

परिब्राण्णिरावृत्तित्रयसंपत्तिः परमेश्वरो भवति । न नमस्कारो न दाग-
पुत्राभिलाषीत्युक्त्या विविदिषामन्यामिनामनि न्यक्तदागपुत्रत्वान् तैर्गमि ज्येष्ठ-
कनिष्ठार्दानां नमस्कारो न कर्तव्यः इत्याशङ्क्य धमेतः स्वनुन्याधिकारिणां
नमस्कार्या नेतर इति । अत्रैते श्लोका मन्वा भवन्त्याह — अत्रैते श्लोका
भवन्तीति । के नमस्कारगन्ताः इत्यत्राह — प्रमादिन इति ॥

“ नितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः ।

भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पारो यतिवृत्तिहा ॥ ” इति,

“ दण्डं भिक्षा च यः कुर्यात् स्वधर्मे व्यसनेन विना ।

यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नचयतिर्हि सः ॥ ” इति च ॥

वेदान्तैर्येषामाशयो दूषितः ते वेदसन्दृषिताशया यतयो । यदि विद्विनर्शलास्तदा
ते ज्येष्ठा अपि न नमस्कार्या इत्यर्थः । यदि छान्दोग्यसप्तमाध्यायपठितनामादि-
प्राणान्तकलनाविगलभूमव्रह्मनिष्ठो यतिः । तदा स्वदृष्ट्या स्वानिरिक्तज्येष्ठ-
कनिष्ठभिदावैरल्यान् तस्य ज्येष्ठकनिष्ठनमस्कारनियमोऽस्ति । इच्छा चेन्नमस्कुप्यात्
नोचेत्तूष्णीं तिष्ठेत् इत्याह — नामेति । यद्यनेवंवित्तदा ईश्वरः ॥ ९-१३ ॥

स्त्र्यादीनां कुत्सनम्

मामपाञ्चालिकायाम्तु मन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।

छाद्यन्मिग्रन्मिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ १४ ॥

त्वङ्मामगक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा क्लोचने ।

ममालोक्य रम्यं चेत् किं मुधा परिगृह्णामि ॥ १५ ॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।

दृष्ट्वा यस्मिन्मुने मुक्ता रसस्योल्लासतालिनः ॥ १६ ॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।

श्रभिराम्बाद्यने कालं लघुपिण्ड इवान्वमः ॥ १७ ॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः ।

दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति नृणवन्नरम् ॥ १८ ॥

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरमा अपि नीरसाः ।

त्रियो हि नरकार्भानामिन्धनं चारुदारुणम् ॥ १९ ॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।

नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुगः ॥ २० ॥

जन्मपल्वलमन्म्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।

पुंसां दुर्वामनारज्जुर्नारी वडिशपिण्डिता ॥ २१ ॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्रिकयानया ।

दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२ ॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क भोगभूः ।

स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥ २३ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।

लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४ ॥

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।

उपनीतेऽप्यविद्यस्त्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५ ॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।

पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ २६ ॥

मन्यामिसामान्यस्य द्विविधब्रह्मचर्यभूषितत्वेन तद्ब्रह्मचर्यमेकवचनाय त्वं-
सामान्यं कुत्सयति—मांसेत्यादिना । सुसमुद्भिकया पेटिकाम्भया । मांम-
पाञ्चालिकाया इत्याग्न्य जगन्त्यक्त्वा सुखी भवेत् इत्यन्तं प्रत्यङ्गो
महोपनिषदि नारदपग्विब्राजकोपनिषदि च व्याख्यातम् । पग्विब्राजकानां दाग-
पुत्रादेरप्रसक्तत्वात् विरक्तगृहिणामपि पुत्रेणया दृश्यजन्वेन तत्र वेगम्यहेतवे
पुत्रभावाभावगतिं कुत्सयति—अलभ्यमान इति । आवयोदम्पत्योः पुत्रो
नास्तीति अलभ्यमानस्तनयः पुत्राभावः । पुत्रोत्पत्त्यादंजुदोऽस्मृष्टत्वेन पुत्राद्येय-
णान्याग एव कर्तव्यः इत्यर्थः ॥ १४-२६ ॥

मद्यतिः

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।

न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७ ॥

रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकान्त्यं प्रपश्यतः ।

विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥ २८ ॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रमह्य परिपन्थिनि ॥ २९ ॥

नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।

कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषत्रोषिने ॥ ३० ॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।

प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥ ३१ ॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।

चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भाव्य ॥ ३२ ॥

यतीनां तदुपादेयं पागहंभ्यं परं पदम् ।

नानः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गव ॥ ३३ ॥

इत्युपनिषत् ॥

नमस्कार्यः सद्यतिः कौटुशः इत्याशंक्य पाणिपादनेत्रचापल्यविरल एव सद्यतिरित्याह—न पाणीति । परद्रव्यकीकटदेशहरणगमनस्पृहा पाणिपादचपलः तद्रहितो न पाणिपादचपलः । यस्य नेत्रमिदं रम्यं इदं अरम्यमिति रूपदर्शनोत्सुकं न नेत्रचपलः तद्विपरीतो ब्रह्मभावाखण्डो यतिः न नेत्रचपलः । इदं स्वादु इदं अस्वाद्विति परगुणागुणप्रशंसनं वा यस्य वाक्करोति स वाक्चपलः तद्विपरीतो न वाक्चपलश्च भवति । एवंविशेषणविशिष्टस्य यतेः ब्रह्मभूतत्वात् अयं ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः सद्यतिर्भवतीत्यर्थः ॥ सद्यतेरपि शरीरत्रयविशिष्टत्वेन कोपादिदृष्टिकवलितत्वात् सद्यतित्वं कुतः इत्याशंक्य सद्यतेः कोपादिदृष्ट्यसंभवमाह—रिपाविति । रिपावरिषड्वर्गे स्वदेहे च ब्रह्मातिरिक्तं न किंचिदस्तीति निर्विशेषब्रह्मज्ञानेन बद्धे सत्यथ समैकात्म्यं नानाविषमप्राप्तसत्तासामान्यं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति पश्यतो विवेकिनः स्वदेहावयवेष्विव कुतः कोपवृत्त्यवकाशः स्वातिरिक्तक्रोधादिवृत्त्यसंभवात् इत्यर्थः । स्वापकारिण्यस्य खलु क्रोधवृत्तिरुदेतीति ॥ एवं चेत् स्वापकारिणि कोपे कुतस्ते कोपो नोदेतीत्याह—अपकारिणीति । क्रोधतुल्यापकारिवैरल्यात् कोपे कोपं करोषि चेत् स्वातिरिक्तकलनाशान्तं ब्रह्मैव अवशिष्यत इत्यर्थः ॥ इत्थंभूतकोपाय नमोऽस्तिवत्याह—नमोऽस्तिवति । मम कोपस्य तुच्छतया वैराग्यदायिने कोपोऽनर्थकरः इति दोषबोधिने गुरुभूताय त्वस्य कोपोपरि विलसितकोपस्य स्वाश्रयः कोपः तं भृशं ज्वालयतीति स्वाश्रयज्वाली तस्मै स्वाश्रयज्वालिने कोपकोपाय नमोऽस्तु कोपकोपं ब्रह्माहमस्मि इत्यनुसंधानं करोमीत्यर्थः ॥ कोपकोपिनोः स्वाज्ञस्वज्ञयोः मिथा वैलक्षण्यमाह—यत्रेति । यत्र निर्विशेषब्रह्मविद्यायां कोपिनः स्वाज्ञजनाः सुप्ता भवन्ति तत्रैव निर्विशेषब्रह्मविद्यायां संयमी कोपकोपी स्वज्ञः प्रबुद्धो जागरूको भवति । हे विद्वन् अत्रैते कोपिनः स्वाज्ञाः यत्र

स्वातिरिक्तप्रपञ्चे प्रबुद्धा भवन्ति तत्रैव योगिराद कंपकोपां स्वप्नः सुषुप्तिं याति इत्यत्र—

“या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमा ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥”

इति स्मृतैः ॥ यत एवमतस्त्वं चिदनिर्गितं न किञ्चिदस्ति सर्वं चिन्मात्रमेवेति चिन्तयेत्याह—चिदिति ॥ पूर्वमन्त्रोक्तचिन्मात्रमेवोपादेयं तदतिरेकेण त्वमहमिदमिति शब्दवाच्यं न किञ्चिदस्तीत्याह—यतीनामिति । परमहंसपदलप्राप्यत्वात् पारमहंस्यमेव परमपदं चिन्मात्रं स्वावशेषतया निष्प्रतियोगिकमित्युपादेयं तस्य निष्प्रतियोगिकत्वेन तदनिर्गितं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः याज्ञवल्क्योपनिषत्सामान्यर्थः ॥

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्यानं लिखितं लघु ।

याज्ञवल्क्योपनिषदो व्याख्याग्रन्थस्तु सप्ततिः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविराजे मन्मथसिन्ध्यापरकं

याज्ञवल्क्योपनिषद्विवरणं सम्पूर्णम्

शाखायनीयोपनिषत्

पूर्णमदः—इति शान्तिः

मनमः बन्धमोक्षहेतुत्वम्

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बन्धाय विषयामक्तं मृत्तयै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १ ॥

समाप्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि म्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥ २ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोषयेत् ।

यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम ।

विष्णुं क्रान्तं वासुदेवं विजानन् विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥

शाखायनीब्रह्मविद्याखण्डापारमुखाकृति ।

यतिवृन्दद्वैतकारं रामचन्द्रपदं भजे ॥

इह खलु शुक्ल्यजुर्वेदप्रविभक्तेयं शाखायनीयोपनिषत् कुटीचकजहूदकहंस-
परमहंसधर्मप्रकटनञ्चाम्ना ब्रह्ममात्रपर्यवसन्ना विजयते । अस्याः स्वल्पग्रन्थतो

विवरणमागम्यते । अत्रादौ वन्धसोक्ष्मं तु मन एवेत्याह—मन एवेति, यथा यन्मनो विषयासक्तं तथा ब्रह्मासक्तं चेत् तद्वान् स्वातिरिक्तवन्तः मुच्यन्ते इत्याह—समासक्तमिति । किं च—चित्तमेवेति । यस्य चित्तं यस्मिन् स्थितं स यच्चित्तः तन्मयः तत्स्वरूपो भवतीत्यर्थः । तं विवृणोति—नावंद्विदिति । वेदविन्न भवतीत्यवेदविद्वजः बृहन्तं विराजमहमिति न मनुने अत्र ब्रह्मविन् परमं धाम न प्रैति स्वाज्ञः मविशेषं निर्विशेषं वा ब्रह्म परोक्षत्वेन न जानातां त्यर्थः । तत्त्वदर्शी विप्रस्तु विष्णुं व्यापनशालं क्रान्तं सर्वज्ञं बामुदेवं सर्वान्तर्धामिणं सर्वधारं वा अहमस्मीति विज्ञानेन विप्रत्वं ज्ञावन्मुक्तत्वं गच्छतीत्यर्थः ॥ १-४ ॥

साधनचतुष्टयसंपत्तिः

अथ ह यत्परं ब्रह्म मनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः ।
शान्तो दान्त उपरतस्मिनिक्षुर्योऽनुचानो अभिजज्ञौ समानः ।
त्यक्तषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥ १ ॥

यद्ब्रह्म अकामहतप्रत्यक्षं तद्ब्रह्म यथावद्विदित्वा मौनी भवेदित्याह—
अथेति । अथ यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ह इत्येतिह्यर्थः ये विदितपरमार्थ-
तत्त्वत्वात् श्रोत्रियाः स्वातिरिक्तेण कामासंभवननिश्चयत्वात् अकामहताः
सन्कादयो ब्रह्मादयो वा यत्सनातनं परं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकत्वमात्रमित्यधीयुः
अर्वाय ज्ञात्वा तज्ज्ञानसमकालं तत् प्राप्नुयुः परमात्मैव भवन्ति । यथोक्तसाधन-
सम्पन्नो यः कश्चन मुमुक्षुः । शान्तो दान्तः इत्यादि साधनचतुष्टयसंपत्तिश्च ज्ञेया-
मप्युपलक्षणार्थं ब्रह्मवित्कुलप्रसूतत्वादनुचानः मुमुक्षुभिः समान अभिजज्ञौ
ज्ञात्वान् । ऋणत्रयापकरणादनुष्ठानेऽपि यः संन्यासी तं परमात्मानं विदित्वा य-
मौनीभूत्वा यत्र कुत्र कुटीरकाद्याश्रमे आभ्यारब्धक्षयं वसेत् हि शब्दद्वयस्योति-
तर्कस्तु निर्विशेषब्रह्मज्ञानसमकालं कर्मत्रयात्सम्भवप्रबोधसिद्धब्रह्मात्मत्वाय -
दित्येदिति ॥ १ ॥

कुटीचकधर्माः

अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः ॥ ६ ॥

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम् ।

शिक्यं पवित्रमित्येतद्विभृयाद्यावदायुषम् ॥ ७ ॥

पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्मा मात्रा ब्रह्मणं श्रुताः ।

न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनन्त्सह ॥ ८ ॥

विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।

तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥ ९ ॥

त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम् ।

निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥ १० ॥

अथादौ कुटीचकधर्मानाह—अथेति । अथ ब्रह्मचर्याद्याश्रमत्रयानन्तरम् । ब्रह्मचर्याद्यपेक्षया कौटीचकं चरमाश्रमं प्रविश्य यथोपपत्तिं यथावलं त्रिदण्डादि-पञ्चमात्रां दधानः सन् भुवं विहरेदित्यर्थः । वासः कौपीनवेष्टनमित्येकमात्रा । त्रिदण्डादिपवित्रान्तमित्येतत्पञ्चमात्रकं बहूदकादिपदमारोढुमशक्त्येत् यावदायुषं विभृयान् इत्यर्थः । किं च—पञ्चैतास्तु कुटीचकस्य यतेर्मात्राः त्रिदण्डादिरूपाः अकारोकारमकारबिन्दुनादमेदेन सा मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः ताः पञ्चमात्राः ब्रह्मणे ब्रह्मणि प्रणवे श्रुताः । एवं व्यक्ताव्यक्तात्मकपञ्चमात्राणां यावदायुषं विभृयादिति पूर्वेण सम्बन्धः । जात्वपि व्यक्ताव्यक्तपञ्चमात्राणां न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि देहत्यागकालेऽपि स्वशरीरेण सह निखनेत् व्यक्तपञ्चमात्राः मात्रापञ्चकयुग्मस्य व्यक्ताव्यक्ताविष्णुलिङ्गत्वेन तदन्यतरस्याव्यव्यवः पततीत्याह—विष्णुलिङ्गमिति । उक्तविष्णुलिङ्गद्वयधारणत्वात्—त्रिदण्डमिति ॥ ६-१० ॥

संन्यामितां चानुविध्यम्, धमेध

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येतं
परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिनोप-
वीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्ध-
चिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः मुशीलिनः पुण्यश्लोका
भवन्ति । तदेतद्वचान्युक्तम् ।

कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इति वृत्त्या च भिन्नाः ।
सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना व्यक्ताव्यक्तं बहिर्गन्तश्च निव्यम् ॥
पञ्चयज्ञा वेदशिरःप्रविष्टाः

क्रियावन्तोऽमी ब्रह्मविद्यां [श्रयन्तः] ।

त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितामः

संन्यन्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः ।

विष्णुकीडा विष्णुरतयो विमुक्ता

विष्णवात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥ १२ ॥

कुटीचकादिचतुराश्रममेतं तद्धर्मानप्याह—अथेति । तेषां धर्मानाह—
सर्व इति । सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः इत्यत्र कुटीचकस्य व्यक्ताव्यक्तमात्रापञ्चक-
द्वयमेव विष्णुलिङ्गत्वेनाभिहितं यत्तन् बहूदकस्यापि समं “बहूदकः कुटीचकवत्
सर्वधर्मसमः” इति श्रुते । हंसपरमहंसयोस्तु स्वाचार्यकलेवं व्यक्ताविष्णुलिङ्गं
तदन्तःकरणमव्यक्तविष्णुलिङ्गं “मुव्यक्तविष्णुलिङ्गं स्यादेति केन्द्रकलेवरम् ।
अव्यक्तविष्णुलिङ्गं तु तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥” इति स्मृतेः ॥ अतः सर्वे
विष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः । शिखिनोपवीतिन इत्यत्र कुटीचकबहूदकयोः
वृत्तिवत् केद्वयार्थस्य शिखिनोपवीतित्वं व्यक्तमुपलभ्यते “केद्वयस्मृतिश्चिन्ता-

प्रत्यक्षकापांसतन्तुकृतोपर्वानम्” इति श्रुतेः । हंसस्य जटाधारणमेव शिखा व्यक्तरूपिणी यज्ञोपवीतं त्वव्यक्ततज्ज्ञानमित्यर्थः । परमहंसस्य तु शिखायज्ञोपवीतं चाव्यक्तं निर्विशेषब्रह्मज्ञानमेवास्य शिखायज्ञोपवीतं च भवति । तथा च श्रुतिः— “ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः” इति ॥ अत एव कुटीचकादिचतुर्णां यतीनां व्यक्ताव्यक्तभेदेन शिखायज्ञोपवीतित्वं सिद्धमेवेत्यर्थः । शुद्धचित्ता इत्यादि पुण्यश्लोका भवन्ति इत्यन्तं कुटीचकादिचतुर्णामपि समानमेवेति मन्तव्यम् । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभिहितः तमेतमर्थं मन्त्रोऽप्यनुवदति—तदेन-दृचाभ्युक्तमिति । किं च—पञ्चयज्ञा इति । पञ्चयज्ञा इत्यत्र कुटीचकपक्षे गायत्रीजपयज्ञो विशेषः प्रणवजपयज्ञस्तु चतुर्णामपि समः । प्रणवजपयोगनपः-स्वाध्यायज्ञानभेदेन सर्वेऽपि पञ्चयज्ञाः वेदशिरसामुपनिषदामर्थश्रवणादौ प्रविष्टाः, “कुटीचकवद्बृहदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोः मननं” इत्यादिश्रुतेः । स्वाश्रमोचितकर्मानुष्ठानपरा इति क्रियावन्तः अमी । परमहंसास्तु ब्रह्मविद्यां विशेषेण मेवन्ते । सर्वेऽपि ब्रह्मनाहंसंसागृह्यं त्यक्त्वा संसागृह्यभूलं ब्रह्म यस्य यस्य यथा ज्ञानं तथा श्रितासः संश्रिताः, संन्यस्तकर्मकाण्डगोचरवेदत्वात् संन्यस्तपुण्याः “यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः” इति स्मृतेः । रसं सारांशमेवाश्नुताः “रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति” इति श्रुतेः । स्वात्तमविशेषनिर्विशेषज्ञानानुरूपेण सविशेषनिर्विशेषविष्णौ क्रीडा विष्णुरतयः बाह्यक्रांटागतिविमुक्ता विष्णुरेवात्मा येषां विष्ण्वात्मकाः सन्तो दसोऽहं सोऽहमिति वा विष्णुमेवापियन्ति विष्णोः सविशेषभावं निर्विशेषभावं वा प्रतिपद्यन्ते कृतकृत्या भवन्तीत्यर्थः ॥ ११, १२ ॥

कुटीचकानां जपयज्ञादि

त्रिसंघिं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा ।

उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिष्ठन् ॥ १३ ॥

दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतीभिश्चतुष्पदा ।

गायत्री जपयज्ञश्च त्रिसंघिं शिरसा सह ॥ १४ ॥

केवलकुटीचकजपयज्ञलक्षणमाह--त्रिसन्धिमिति । त्रिप्रवणम्नानं कुटीच-
कस्य बहुदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य भस्मम्नानं इति ।

“ परमहंसाश्रमस्थानां स्नानादेरविधानतः ।

अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ” ॥ इति,

“ स्नानं मनोमलत्यागः ” इति च श्रुतेः । व्याहृतिगिरःसंपुष्टितुर्यपदाञ्चिन-
गायत्रीपादचतुष्टयावर्तनं कुटीचकः सन्धित्रयेऽपि कर्तव्यमित्यर्थः । परमहंस-
जपयज्ञस्तु सन्धित्रयेऽपि प्रणवजप एव कार्यः यदि श्रवणाधिकारी न भवति
तदा—

“ यस्तु द्वादशाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।

तस्य द्वादशाभिर्मर्तेः परं ब्रह्म प्रसीदति ॥ ”

इति श्रुतेः ।

“ स्वशाखोपनिषद्गीता विष्णोर्नाम्निस्तद्वक्त्रम् ।

श्रीरुद्रं प्रणवं चैव नित्यमावर्तयेद्यतिः ॥ ” इति,

“ प्रणवादपरं जप्त्वा कदा मुक्तो भविष्यति ॥ ”

इति स्मृतेश्च ॥ १३, १४ ॥

योग्यब्राह्मिण्युक्त्यम्

योगयज्ञः मदैकाग्र्यमत्तया सेवा हरेर्गुरोः ।

अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥ १५ ॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।

ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्रौ जुहोति तत् ॥ १६ ॥

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।

ज्ञानदण्डा ज्ञानशिक्षा ज्ञानयज्ञोष्मीतिनः ॥ १७ ॥

शिखा ज्ञानमयी यम्य उपवीतं च तन्मयम् ।

ब्राह्मण्यं मकलं तम्य इति वेदानुशामनम् ॥ १८ ॥

अयमेव हि परमदंमजपयज्ञः । योगयज्ञादियज्ञचतुष्टयं तु सर्वेषां मममिन्याह—
गयज्ञ इति ॥ १३-१८ ॥

परिव्राजकैः कर्तव्यनित्यपणम्

अथ खलु मोक्ष्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा
भवन्ति । कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पाभूयाममन्वाहंकारादींस्तितीर्थं
मानावमानौ निन्दाम्स्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव निष्ठासेच्छिद्यमानो
न ब्रूयान् । तदेवंविद्वांस इहैवामृता भवन्ति । तदेतद्वचाम्युक्तम् ।
बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेक्षमाणो द्वन्द्वमहः प्रशान्तः । प्राचीमृदीचीं
वा निर्वर्तयंश्चरेत् ॥ १९ ॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोक्य

शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।

यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मुष्या-

दयाचितं याचितं वाथ भैक्षम् ॥ २० ॥

मृद्वार्वलावूफलं तन्तुपर्ण-

पात्रं तत्तया यथा तु लब्धम् ।

क्षायं क्षामं तृषं कन्याजिनौ च पर्णं

आच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तम् ॥ २१ ॥

ऋतुसंघौ मृण्डये-मुण्डये

नाषो नास्ति जातु शिखां न वापयेत् ।

चतुरो मासान् ध्रुवशीलतः म्यात्

म यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥ २२ ॥

पञ्चयज्ञप्रकारमुक्त्वा अनन्तं तेषां धर्मभृगं तत्फलं चोपन्यम्यति—
अथेति । तथा भवन्ति जातल्बपधरा भवन्तीत्यर्थः । तैः कर्तव्यमाह—कामेति ।
ब्रह्मानिरिक्तं न किञ्चिदस्तीति ज्ञानबलेन वृक्षवदेहादवात्मान्मांश्याभिमानवैकल्य-
पूर्वकं सर्वापह्नवसिद्धं ब्रह्म निष्प्रतियोगिकस्वमात्रमिति यदा जानन्ति तदैवं
विद्वांसः इहैवामृता भवन्ति विदेहमुक्ता भवन्तीत्यर्थः । ब्राह्मणेन योऽर्थोऽभि-
हितः तमेतमर्थं [सोऽर्थः] मन्त्रेणाप्युच्यते इत्याह—तदेतद्ब्रह्माभ्युक्तमिति । वन्धु-
पुत्रमनुमोदयित्वा पुनस्तान् जात्वपि अनवेक्षमाणः द्वन्द्वसहः प्रशान्तः
प्राचीमुदीचीं वा स्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानपूर्वकं स्वस्वरूपानुसन्धानं निर्वर्तयंश्च-
रेत् । कुटीचकादिसमुदायधर्मानाह—प्राचीति । व्यक्ताव्यक्तशिखी मुण्डी चोप-
वीती स्वदेहमात्रकुटुम्बी देहधारणोपयोगं किञ्चित् यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन् । फलं
नालिकेरकफलं तन्नुग्रथितपर्णकृतं वा पात्रं यथालब्धं गृह्णीयात् क्षाणं चनपट
क्षामं वल्कलं तृणगचितपटं कन्थाजिन इति वक्तव्ये कन्थाजिनाविति
लिङ्गव्यत्ययः इत्थंभूतवाससालङ्कृतस्य अहतं ग्रथितं तद्विमुक्तं वा पर्णमाच्छादन-
मुत्तरीयं भवेदित्यर्थः । कक्षाद्वयमुच्यत इति हंसतेषां क्षौणं तुल्यं हंसस्य
जटाधारित्वात् कुटीचकस्याप्यमेव विशेष इत्याह—जातु सिखां न वापयेदिति ।
चातुर्मास्यनियमः सर्वेषामपि तुल्य इत्याह—चतुर इति । यावद्विगद स्वपिति
तावच्चतुरो मासान् वार्षिकानेकत्र निवसेत् । नो चेत् “पक्षा वै मासाः”
इति मासद्वयमेकत्र निवसेत् पुनरस्मिन् विगज्युत्थिते मन्यथान्यालश्रौ दडा
वा मासान् स्वाश्रमोचितकर्मलिप्सुः सर्वत्र विहरेत् ॥ १९-२२ ॥

वास्तव्याने विममः

अन्यानथाह नरुत्थितैऽस्मिन्

स्वकर्मलिः विहरेद्वा वसेत् ।

देवाश्चगारे तरुमूले गुहायां

वसंदमङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।

निरिन्धनज्योतिर्विषोपशान्तो

न चोद्विजेदुद्वेजयेद्यत्र कुत्र ॥ २३ ॥

यदि श्रवणध्यानसमाधिकरणेच्छुः तदा एकत्र वा वसेत् । किमयं संसाणि-
मावमथे वसेत् इत्यत आह—देवेति । देवाख्यादिप्रशस्तस्थले वसेत् ; तत्रापि
समतां विहायासङ्गो भूत्वा परैरलक्षितशीलवृत्तः सन् स्वातिरिक्तभ्रमतो
निरिन्धनज्योतिर्विषोपशान्तो भवेत् स्वसमानं स्वावं वा जनं दृष्ट्वा न कदाप्यु-
द्वेजनं कुर्यात् । यत्र कुत्रापि प्रसक्तस्वातिरिक्तधियमुद्वेजयेत् सर्वत्र स्वात्मधियं
कुर्यादित्यर्थः ॥ २३ ॥

आत्मज्ञानवतः स्थितिः

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः ।

किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ २४ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।

नानुध्यायाद्बहुञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ २५ ॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।

ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥ २६ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ २७ ॥

यावदात्मा न लभ्यते तावदेव शरीरशोषणाद्युपायानुष्ठानं कार्यम् ज्ञाते
स्वावशेषधियात्मन्यथ शरीरशोषणं पोषणं वा प्रयोजनाभावान्न कार्यमित्याह—

आत्मानमिति । यथावद्ब्रह्मवेदनं निर्विद्य ब्रह्मयाथान्म्यमत्रगम्य स्वानिग्नविप्रयं
बाल्येन वैराग्येण तिष्ठामेन न्यानुमिच्छेत् । ततो ब्रह्मविद्यां बाल्यं च निर्विद्याथ
ब्रह्मातिगितं न किञ्चिदस्तीति निश्चिन्यात्मवान् आत्ममात्रतयावशिष्येदित्यर्थः ।
तिष्ठमन्त्रत्रयं बृहदारण्यकपष्टे व्याख्यातम् ॥ २४-२७ ॥

आरुडपार्तिन्धे प्रत्यवायः

अथ खलु सोम्येदं पात्रान्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहान्ति
स वीरहा भवति स ब्रह्महा भवति स ब्रूणहा भवति स महा-
पातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां पश्यान्नृजनि स मनेनो
भवति स गुरुनल्पगो भवति स मित्रघ्नुर्भवति स कृतघ्नो भवति स
सर्वान् लोकान् प्रच्युतो भवति । तदेतद्वचाम्युक्तम् ।

स्तनः सुरापो गुरुनल्पगामी

मित्रघ्नुरेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।

व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं

त्यजन्न शुद्ध्येदम्बिलैरात्मभासा ॥ २८ ॥

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा

यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा ।

प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो

नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो कसेन्मोक्षश्रमे चिरम् ।

मोक्षश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥ ३० ॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।

तमारुढच्युतं विद्यादिनि वेदानुशासनम् ॥ ३१ ॥

एवं ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्याथ यावदुपाधि पारिव्राज्यधर्मे स्थातव्यं तद्विहाय स्वच्छन्दं यो वर्तते स प्रत्यवतीति तं कुत्सयति—अथेति । आत्मधर्मं यावत्स्व-
पगविवेकः तावद्विष्णुलिङ्गद्वयानुकरणलक्षणं यो विजहाति स वीरहा भवति ॥

“ यावदुपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् ।

शुभं वाशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ।

तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः ॥ ”

इति,

“ सप्राणमथवाप्राणं देशिकेन्द्रकलेवरम् ।

यस्मिन् देशे वसेद्योगी तां दिशं प्रणमेत् सदा ॥

यावदेहे वसेन् प्राणस्तावच्छिष्योऽप्रमादतः ।

गुरुच्छन्दानुवर्ती चेद्वैष्णवं पदमेति सः ॥ ”

इति श्रुतिस्मृतिमिद्विविष्णुवाह्यान्तर्लिङ्गानुकरणलक्षणां य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति । ब्राह्मणेन यदुक्तं तन्मन्त्रा अप्यनुकुर्वन्तीत्याह—तदेतदृ-
चाम्युक्तमिति । निष्कृतेः प्रायश्चित्ततः स्वर्णस्तेयादिपञ्चमहापातकिनोऽपि शुद्धिं यान्ति ब्रह्ममावास्तुदेशिकेन्द्रस्य यथोक्तलक्षणं व्यक्तं अव्यक्तं वा विधृतम् ।
देशिकेन्द्रस्थूलदेहपरिचरणलक्षणं व्यक्तविष्णुलिङ्गं तदा ज्ञानवशवृत्तिस्त्वलक्षण-
मव्यक्तविष्णुलिङ्गं पूर्वार्चयैरपि विधृतं अनुष्ठितं यो नानुतिष्ठति सोऽयं महापातकी
अस्ति तैरपि प्रायश्चित्तं शुष्येन् स्वात्मज्ञानमन्यत्र सर्वपातकप्राप्तेव अत्र
त्वयमात्मासासज्ञानेनापि न शुष्येत् । देशिकेन्द्रप्रसादं विना केनापि न
शुष्येदित्यर्थः । विष्णुलिङ्गमुक्त्याग्निः प्रायश्चित्तं नास्तीति कथमुच्यते
विष्णुलिङ्गं यैरस्वाश्रमोचितधर्मानुष्ठानात् दण्डकमण्डलधारणलक्षणपारमहंस्या-
श्रमस्यापूर्वकमवधूताश्रमपरिग्रहाद्वा देशिकोपदिष्टमन्त्रत्यागपूर्वकं प्रत्यापत्तिलक्षणा-

द्राचायांन्तर्गपरिग्रहधर्मानुष्ठानाद्वा शुद्धिमन्य कृतकृत्या भवेदित्यन आह —
त्यक्त्वेति । सर्वाश्रमत्यागपूर्वकं अप्रमादेन यत्किञ्चाश्रमे वसेदित्याह —
त्यक्त्वेति । स्वधर्मत्यागिन आरूढपतितत्वं निगमयानि—पारिव्राज्यमिति ।
यः स्वधर्मे विष्णुलिङ्गद्वयानुकरणलक्षणे न तिष्ठति ॥ २८-३१ ॥

विष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तनम्

अथ खलु सोम्येयं मनातनमात्मधर्म वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा
यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति स पुण्यश्लोको भवति स
लोकज्ञो भवति स वेदान्तज्ञो भवति स ब्रह्मज्ञो भवति स सर्वज्ञो
भवति स स्वराट् भवति स परं ब्रह्म भगवन्ममाप्नोति स पितृन्मं-
बन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ॥ ३२ ॥

शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले मन्यमतीह विद्वान् ॥
त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिंशच्च परतः परान् ।

उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः ॥ ३४ ॥

मन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।

तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥ ३५ ॥

अथ खलु सोम्येयं मनातनमात्मधर्म वैष्णवीं निष्ठां नाम-
माप्य प्रब्रूयान्नानूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय
नानुपसन्नाय नाप्रथतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतद्वचाम्युक्तम् ।

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम

गोपाय मां श्रेयसिहोमसेन ।

असूयकायानृजवे शठाय

मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ ३६ ॥

यमैवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं

मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।

अम्मा इमानुपसन्नाय सम्यक्

परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥ ३७ ॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते

विप्रा वाचा मनमा कर्मणा वा ।

यथैव तेन न गुरुर्मोजनीय-

स्तथैव तदन्नन्नमुनक्ति श्रुतं तत् ॥ ३८ ॥

गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः ।

एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति ।

तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥ ३९ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवं तथा गुरौ ।

स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशामनम् ॥ ४० ॥

इत्युपनिषत् ॥

एवं विष्णुलिङ्गद्वयपराङ्मुखं कुत्सयित्वाथ पूर्वोक्तविष्णुलिङ्गद्वयानुवर्तिनं कृतकृत्यतया स्तोति—अथेति । स बक्षी जितेन्द्रियो भवति । किं बहुना स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति । ब्राह्मणोक्तार्थं मन्त्रा अप्यनुवदन्तीत्याह—स्तमिति । यद्ययं विद्वत्संन्यासी भवति तदा स्वस्य शतपूर्वास्त्वोत्तरतस्त्रिशत-सन्तत्यन्ताः कृतार्था भवेयुरित्यर्थः । किंच—त्रिंशत्परानिति । अतुष्टा विद्वत्संन्यास्ततोऽपि तत्पित्रद्वयः सुकृत्तिनो भवेयुरिति निगम्यति—संन्यस्त-

मिति । कृतार्थाधिष्ठितयनिष्ठा वैष्णवा नानधिकागिणे वक्तव्या सम्यक् चिं
 परीक्ष्य संविदितसुशालाय वक्तव्येत्याह—अथेति । स्वयमेन निष्ठामनामाद्या-
 कृतार्थस्सनन्यस्मै न ब्रूयान् यदि स्वयं कृतार्थस्मिन्ना नाननृचानायेत्यादि । इमां
 निष्ठां न ब्रूयादिति यद्ब्राह्मणेनोक्तार्थं मन्वाभ्यामभ्युक्तमाहुर्गिन्याह—हस्मेति ।
 ब्रह्मवादिन इति शेषः । किमिति—विद्याह वा इति । कस्मै वक्तव्येन्यत्र—
 यमिति । देशिकं ये न बहुमन्यन्ते तद्बहुगृहं यतयो भिक्षा न गृह्णास्युर्गिन्याह—
 अध्यापिता इति । ये विप्रा यतयो येन गुरुणा प्रणवप्रज्ञावाक्यादिकमभ्यापि-
 तास्सन्तो मनोवाक्कायकर्मभिः स्वापदंष्ट्रां गुरुं नाद्रियन्ते न बहुमन्यन्ते हृन्दनं
 परिभवं वा कुर्वन्ति यथैव तेन तैर्गुरुदूषकैः साकं श्रेयोऽर्थभिः गृहिभिः न
 कदापि गुरुः भोजनीयः गुरुरपि तद्गृहं कदापि न भुङ्क्ते नयैव तदन्नं तेषां
 गुरुदूषकभिक्षादायिनां निर्दृष्टानामपि तद्गृहेऽन्नं मन्ये मंप्रदायप्रवर्तकाः सद्यतयो
 न भुनक्ति शिष्येषु गुरुप्रसादावधि न भुनक्ति न भुङ्क्ते “एकाश्वप्रदानां”
 इति मन्त्रेण श्रुतं तन् इत्थंप्रभाववान् गुरुः कीदृश इत्यत्र—गुरुरेवेति ।
 “ओमित्येकाश्वं परं ब्रह्म” इति श्रुतिसिद्धे एकाश्वप्रदातागमः । तत्पक्षीया-
 णामपि फलं समानमित्यर्थः । तद्विपरीतसच्छिष्यगुरुसेवापरममूलं दर्शयन्नुप-
 संहति—यस्येति । यो विष्णोर्व्यक्ताव्यक्तलिङ्गदेशिकः छन्दानुवर्ती स ब्रह्म-
 विद्भूत्वा सर्वापहवसिद्धं परं ब्रह्म स्वमात्रमिति प्रकर्षेणेत्यात् प्राप्नुयात् इति
 यत्तद्वेदानुशासनं सर्ववेदान्तनिश्चितमित्यर्थः । इत्युपनिषच्छब्दः शाखायनी-
 योपनिषत्सामान्यर्थः ॥ ३२-४० ॥

श्रीवामदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

शाखायनीयोपनिषद्व्याख्यानं लिखितं लघु ।

शाखायनीयवृत्तिजातं चत्वारिंशधिकं शतम् ॥

इति श्रीमदीशाचरणोत्तरस्तोपनिषद्ब्रह्मविकरणे एषोऽस्तसंख्याप्रकरणं

शाखायनीयोपनिषद्विकरणं सम्पूर्णम् ॥

संन्यासे पणिषत्

आप्यायन्तु—इति शान्तिः

मंन्यामविधिः

अथातः संन्यामोपनिषदं व्याख्यास्यामः । औऽनुक्रमेण
संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्याम उच्यते ।
कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिः गुप्तं करोति मातरं
पितरं भार्यां पुत्रान् बन्धुननुमोदयित्वा । ये चाम्यत्विजस्तान्मर्वाश्च
पूर्ववद्गुणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत् । सर्वम् दद्यात् यजमानस्य । गा
ऋत्विजः । सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहा-
र्यपचने सम्भ्रावसथ्ययोश्च प्राणपानाद्योऽष्टाङ्गानान्सर्वान् सर्वेषु
समापयेत् । मशिखान्केशान् विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं
दद्यात्, त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्तयेत् । यद्यपुत्रो भव-
त्यात्मानमेवेमं ध्यात्वा नवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत् ।
चतुर्षु वर्णेषु भैशाचर्यं चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधव-
दशनमाचरेद् प्राशनीयाद्यथालाभमशनीयात्प्राणसंचारणार्थं

यथा मेदोवृद्धिर्न जायते । कृशीभूत्वा ग्रामैकरात्रम्, नगरे पञ्चरात्रम्, चतुरो मामान्वार्षिकान्ग्रामे वापि नगरे वापि वसेन् पक्षा वै मासा इति द्वौ मामौ वा वसेन् । विशीर्णवन् वल्कलं वा प्रनि-
गृहीयान् नान्यन्प्रनिगृहीयान् । यद्यशक्तो भवति क्लेशान्मन्यन्तं तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यम्यति यो वा एवं पश्यति किमप्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं चाम्योपम्पर्शनमिति । न होवाच । इदमेवाभ्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम्, विद्या मा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण । जलतीरं निकेतनम् । अस्तमित आदित्ये कथं चाम्योपम्पर्शनमिति ।

यथाहनि तथा रात्रौ नाम्य नक्तं न दिवा । तदप्येतद्वि-
णोक्तम् । सकृद्दिवा है वाम्यै भवति । य एवं विद्वाननेनात्मानं संघत्ते ॥ १ ॥

संन्यासोपनिषद्वेद्यं संन्यासिपटलश्रमम् ।

सत्तासामान्यविभवं स्वभात्रमिति भावये ॥

इह ग्लु सामवेदप्रविभक्तेयं संन्यासोपनिषत् कुटीचकादिषु मेदधर्मे-
प्रकटनव्यग्रा ब्रह्मात्रपर्यवसन्ना विजृम्भते । अस्याः संक्षेपतो विवरणमारभ्यते । यथोक्तप्रधिकारसाधनसम्पन्नानुपलभ्य श्रुतयः स्वयमेव संन्यासोपनिषदमुपन्य-
स्यन्तीत्याह—अथेति । अथशब्दः अधिकारिणोभानन्तर्यार्थः । यतः स्वातिरिक्त-
सामान्यसंन्यासं विना निष्प्रतियोगिकस्वभात्रज्ञानं नोदेयः । तदुपपत्त्या श्रुत्यो
कथं संन्यसोपनिषदं व्याख्यास्यामो विस्पष्टमाख्यास्यामो वदाम इत्यर्थः ।
तत्प्रकारः कथमित्यत्र—य इति । ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् इत्यादि
कुटीचको क्लृप्तकत्वं प्राप्तेत्यादि चानुक्रमेण य एषरात्रं संन्यम्यति स एव

संन्यासी भवतीत्यर्थः । संन्यासं संन्यामिनं चाक्षिपति—क इति । स्वाशङ्कान्तं स्वयमेवाहुः—य इति । य आत्मानं वक्ष्यमाणक्रियाभिर्गुप्तं करोति । मात्राद्यनुमोदनादिवक्ष्यमाणविधिना संस्कर्तव्येत्यर्थः । तत् कथमित्यत्र—मातरं पितरं भार्यां पुत्रान् बन्धून्नुमोदयित्वा संन्यासं कर्तुमिच्छामि भवद्भिर्गजा देयेति चरमेष्टिनिवेपनार्थं ऋत्विग्वरणं कर्तव्यमित्याह—ये चेति । ये चास्यन्विजः सन्ति तान् सर्वांश्च पूर्ववत् वृणीत्वा अथ तैः सह वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत् इति । ततो यजमानस्य यावन्तः पुत्राः स्युः आत्मना सह स्वार्जितं धनं यथाविभागं विधाय स्वभागप्राप्तसर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो देयमित्याह—सर्वस्वमिति । यजमानस्य स्वस्य सर्वस्वं ऋत्विग्भ्यो यजमानः स्वयं दद्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत्र यार्ज्ञायपात्रतोऽग्निसमारोपणं कुर्यादित्याह—सर्वैरिति । ब्राह्मणजानिप्रविभक्तब्राह्मणब्राह्मणादिचतुर्षु वर्णेषु भैक्षार्चय चरेत् । यद्यशक्तो भवति तदा र्गतादिवाधावाधकं वस्त्रं प्रतिगृह्णीयात् ; नोचेत् र्गतादिजन्यक्लेशतस्तप्यते तप इति । स्वाचितवस्त्रादिप्रतिग्रहे तु स्वाश्रमोचितं तपस्सुखं तप्यत इत्यर्थः । नृषादिकार्यं निर्वर्तयन् नागस्य सर्वत्र विद्यमानत्वात् तद्याच्चा न कार्या (कामो मद उदपानं) इति श्रुतेः उदरपात्रेण यथालाभमश्नन् जलतीरे निकेतनं अस्ति चेत्तत्र वस्तव्यमित्यर्थः । अस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति । रात्रौ जलाशयस्पर्शननिषेधात् एवं चिदादित्यभावमापन्नस्य यथाहनि तथा रात्रौ । तदप्येतद्दृषिणा मन्त्रेण उक्तम् । किमिति । सकृद्दिवा ह्येवास्मै भवतीति । सदास्य दिवा भवतीत्यर्थः । इतिशब्दो मन्त्रपगिसमाप्त्यर्थः । य एवं विद्वानेतेनात्मानं संघत्ते यः संन्यासज्ञानयोगेनानुसंधानं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । शिष्टं आरुणिकतारदादौ सम्यक् प्रपञ्चितमित्यर्थः ॥ ।

इति प्रथमोऽध्यायः

संन्यासाधिकारी

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशा-
सूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा माधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥ १ ॥

कः संन्यस्तुमर्हतीत्याकाङ्क्षायां आदौ संन्यासाधिकारिणं निरूपयति --
चत्वारिंशदिति । साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति इत्येतन्
नारदपरिव्राजके व्याख्यातम् ॥ १ ॥

पतितलक्षणम्

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः ।

स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥ २ ॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः ।

संन्यासविघ्नकर्ता च त्रीनितान्पतितान्विदुः ॥ ३ ॥

किंच संन्यासं करोमीति संन्यासे निश्चयं कृत्वा । यः संन्यासम-
धिक्षिपति पतितं न्यासयति संन्यासविघ्नमाचरति ते प्रत्यवायिनो भवन्संन्यास-
संन्यासमिति ॥ २, ३ ॥

संन्यासानधिकारिणः

अथ यण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रीणो बधिरोऽर्भको मूकः
पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टो-
ऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः । संन्यस्ता यद्यपि
महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

आरूढपतितापत्यं कुनसी श्याक्दन्तकः ।

क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हते ॥ ५ ॥

संप्रत्यवमिनानां च महापातकिनां तथा ।
 ब्राह्मणानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ ६ ॥
 व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम् ।
 मत्स्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् ॥
 एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ७ ॥

संन्यासानधिकाणि निर्दिशति—अथेति । शिपिविष्टः विकसित-
 शेषः ॥ ४-७ ॥

संन्यासस्वीकारप्रकारः

ओं भूः स्वाहेति शिखामुत्पाद्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् ।
 यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्वा ओं
 स्वाहेत्यप्सु बलं कटिसूत्रं विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवार-
 मभिमन्त्रयेत् ॥ ८ ॥

उक्तदोषरहिताः संन्यासाधिकाणि भवन्तीत्यधिकारिनिर्णयानन्तरं तत्करण-
 प्रकारमाह—ओमिति ॥ ८ ॥

संन्यस्तपुरुषस्तवः

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
 एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ९ ॥
 षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च ।
 कुलान्तरं ते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥ १० ॥

ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः ।

प्रेषाग्निर्निर्देहोत्सर्वास्तुषाग्निर्वि काञ्चनम् ॥ ११ ॥

एवं विधिवत् संन्यस्तपुरुषं ज्ञानाधिकाग्निं स्नोति—संन्यासिनमिति ।
किं च—षष्टिमिति । सन्तानजा दोषाः दृष्टुमंजानाः ॥ ९-११ ॥

दण्डपरिग्रहः

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥ १२ ॥

यद्यातुरो जीवति तदा तेन यथोक्तलक्षणं दण्डादिकं स्वीकार्यमित्याह—
सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेदिति ॥ १२ ॥

दण्डलक्षणम्

दण्डं तु वैणवं मौम्यं सन्वचं समपर्वकम् ।

पुण्यस्थलममुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ १३ ॥

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविगजितम् ।

नासादन्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः ॥ १४ ॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।

न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १५ ॥

दण्डलक्षणमाह—दण्डमिति ॥ १३-१५ ॥

कमण्डलुपरिग्रहः

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा
सर्वमौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टामिषिक्तो भूत्वा यथा-
सुखं विहरेत् ॥ १६ ॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृतं त्यज ।

उभे सत्यानृतं त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ १७ ॥

कमण्डलुं च पग्निगृह्य देविकमुखात् प्रणवमहावाक्योपदेशं लब्ध्वा
मन्त्राभ्रमाच्चाग्नेरो भूत्वा संशयादिपञ्चदोषशान्त्यन्तं वेदान्तश्रवणं कृत्वाथ
योगपट्टाभिषिक्तो मुनिः सुर्वनुज्ञया यथामुखमाप्रारब्धं विहरेदित्याह—
जगदिनि । तस्मिन् धर्मादिकर्तव्याकर्तव्यबुद्धिस्त्याज्येत्याह—त्यजेति ॥ १६, १७ ॥

संन्यामिनां चातुर्विध्यम्

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्म-
संन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ १८ ॥

संन्यासः कर्तविविध इत्यत आह—वैराग्येति ॥ १८ ॥

वैराग्यसंन्यासी

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्म-
वशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ १९ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य इहामुत्रार्थभोगतृष्णाविगतिमेत्य ॥ १९ ॥

ज्ञानसंन्यासी

शान्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां
शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वा
हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञान-
संन्यासी ॥ २० ॥

ज्ञानवैराग्यसंन्यासी

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानु-
संधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य ज्ञानरूपवशो भवति स ज्ञान-
वैराग्यसंन्यासी ॥ २१ ॥

कर्मसंन्यासी^१

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थ्याश्रममेत्य वैराग्या-
भावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी^१ ॥ २२ ॥

षड्विधसंन्यासः

संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंमपरमहंमतुरीया-
तीतावधूताश्चेति ॥ २३ ॥

कुटीचकः

कुटीचकः शिखाहोषणीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटी-
कन्याधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्षादिमन्त्रमाधन-
पर एकत्राज्ञादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ २४ ॥

बहूदकः

बहूदकः शिखादिकन्याधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचककर्मसंन्यासी
मण्डलद्वयस्याष्टकबलाशी ॥ २५ ॥

हंसः

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यमंकलसमा-
कृताक्षरी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ २६ ॥

^१ कर्मसंन्यासी इत्यपि उपादेयः पाठः स्यात् .

परमहंसः

परमहंसः शिम्वायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येक-
कौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भम्भो-
द्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥ २७ ॥

तुरीयातीतः

तुरीयातीतो गोमृगवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये,
देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८ ॥

अवधूतः

अवधूतम्वनियमः पतिताभिः शम्भुवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगर-
वृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः ॥ २९ ॥

“वैगम्यमंन्यासी” इत्यारभ्य “स्वरूपानुसन्धानपरः” इत्यन्तं
प्रायज्ञो नारदपरिव्राजकोपनिषदि व्याख्यातम् ॥ १९-२९ ॥

प्रत्यम्रह्मैक्यभावना

जगत्तावदितं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् ।

यद्वाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः ।

कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥ ३० ॥

जडया कर्णशङ्कुल्या कल्यमानक्षणम्यथा ।

शून्याकृतिः शून्यभ्रः शब्दो नाहमचेतनः ॥ ३१ ॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा ।

चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥ ३२ ॥

लब्धान्मा जिह्वया तुच्छं लोभ्या लोलमत्तया ।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रमो नाहमचेतनः ॥ ३३ ॥
दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनाः ।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥ ३४ ॥
नामया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः ।
पेत्वोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥ ३५ ॥
निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः ।
शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६ ॥
चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभामकः ।
सत्त्वाद्याभ्यन्तरे व्यापि निष्कलोऽहं निरञ्जनः ।
निर्विकल्पचिदाभाम एक एवास्मि सर्वगः ॥ ३७ ॥
मयैव चेतनेनेमे सर्वे षट्पटादयः ।
सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥ ३८ ॥
मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
तेजमान्तःप्रकाशेन यथाग्निक्वणपङ्क्तयः ॥ ३९ ॥
उद्भूतान्द्रव्यं प्रोक्ता परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी हिरण्यसिन्धुदृष्टिषु ॥ ४० ॥
सर्वभावान्तरस्याय चैत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥ ४१ ॥

दुष्टीवशात् स्वस्वपासुसन्धानवृत्तिः केनोपायेन त्रायोऽत्र संख्यादि-
पञ्चदोषदान्त्यन्तमीशाद्योराशतवेदान्तप्रवणं कृत्वा भुतार्थमननोऽनुसन्धा-

नाख्यनिदिध्यामनवृत्तिरुदेति इत्याह—जगदिति । जगत्प्रविभक्तदेहः शब्दादयो वा त्वमर्मान्यत आह—कालेनेति । लोलसत्तया लोलमनोविशिष्ट्या । श्रयिण्या श्रयर्शाल्या । अचेतनः स्वानिर्गितेन्द्रियेन्द्रियार्थवैरल्यात् । चिन्मय-
दृष्टाबुद्धिनायां प्रत्यग्रहैक्यं भवर्तात्याह—सर्वेति । पूर्वार्धस्तत्पदार्थः । उत्तार्ध-
प्रविभक्तद्वादशास्तत्त्वपदार्थः । तदुपरि विद्यमानाक्षरचतुष्टयं तु असिपदार्थः ।
“ नमस्त्वंक्यं प्रवदेत् ” इति श्रुतेः ॥ ३०—४१ ॥

चितिशक्तिः तत्स्तुतिश्च

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥ ४२ ॥
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः ।
चितश्चैत्र्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते ॥ ४३ ॥
सा हि वाचामगम्यत्वादमत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यमिद्वान्तदशामुपयातेव शिष्यते ॥ ४४ ॥
ईहानीहमयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥ ४५ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमशानां कीटानां समतां गताः ॥ ४६ ॥

चिद्विकल्पितं सर्वं चिदेवेत्याह—विचित्रा इति । उक्तविशेषणाविशिष्ट्या
चिता यतः पृथिव्यादिपञ्चभूतभौतिकगताः काठिन्यादिनानाविचित्रशक्तयो वर्तन्ते
समा याः स्वात्मशक्तिमयाः क्रियन्ते “ तत्सृष्ट्वा सच्च त्वन्वामवत् ” इति श्रुतेः ।
चिद्विकल्पितकाठिन्यादिशक्तयश्चिदेवेत्यर्थः । कालत्रयकलनाकलितविचित्रशक्तीनां
निरात्म्याणां कैयत्वेन विद्यमानत्वात् चिद्विकल्पितेषु चिद्विषयेषु विषम

भवितुमर्हतीत्यत आह—कालेति । कालत्रयावच्छिन्नानावैषम्यविशिष्टैर्य-
पटलमस्तिनास्तीति विभ्रमापहवकलनामप्युपेक्षित्याश्रितः कुतो विषमप्रसक्तिः
कित्वचिदपहवसिद्धचितः समतैव निग्रन्थियोगिकमवशिष्यते इत्यर्थः । विषम-
वागम्यचितः समता कुतः इत्यत आह—सा हीति । “यतो वाचो निवर्तन्ते”
इति श्रुत्यनुरोधेन यस्याश्रितैर्वाचामगम्यत्वात् या हि पुनश्चित् स्वाज्ञदशायां
देहाद्यतिरेकेण शाश्वतीमसतामापन्नेव दृष्टा या हि च पुनः स्वज्ञस्वाज्ञदृष्टि-
विकल्पितसप्रतियोगिकात्मानात्मकलना यस्मान्निर्गतापहवतां गता स निगन्मा
तद्वाचो नैरात्म्यम् ।

“इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमियपि ।

यस्य प्रपञ्चमानं न ब्रह्माकागमर्पाह न ॥”

इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन निग्रन्थियोगिकब्रह्मात्रतया स्थितिरेव नैरात्म्यसिद्धान्तद-
शेत्युच्यते । स्वाज्ञदृष्ट्या तु सा हि चित् नैरात्म्यसिद्धान्तदशां स्वस्वरूपगूढ्यता-
मुपयातेव न हि परमार्थदृष्टेस्तथा भवितुमर्हति इवशब्दद्वयस्य परमार्थदृष्टबन्धु-
कूलत्वात् । एवं द्योत्यते हीवशब्दद्वयतः स्वाज्ञादिदृष्टिर्माह सत्यसति निग्रन्थियोगिकं
चिन्मात्रमवशिष्यत इत्यत्र—“स्वाज्ञस्वज्ञदशायां यदेकरूपतया स्थितम् ।
तद्वि नैरात्म्यसिद्धान्तसत्तासामान्यमुच्यते ॥” इति स्मृतेः । एवं निग्रन्थि-
योगिकचिन्मात्रमुध्वा ये स्वातिरिक्तेहानीहादिकलनाकलित्रं जगन्मात्रं मन्यन्ते
ते धराविवरनिमग्नक्रीटतुल्या भवन्तीत्यह—इहेति । निर्विशेषतया सा चिन्नो-
त्पादितुं शक्ता । येषामेवं ते ॥ ४२-४६ ॥

कमेदानुमनः

आत्मनेऽस्तु नमस्त्वं मयि विच्छिन्नचिदात्मने ।

परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥ ४७ ॥

उद्धृतोऽस्मि निज्जनेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते ।

तस्यैव मयि जगन्मात्रं तस्यैव मह्यं चिदात्मने ॥ ४८ ॥

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
 तिष्ठन्नपि हि नामीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
 शान्तोऽपि व्यवहारम्यः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४९ ॥
 सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञयश्चास्रवन्धुवत् ।
 शरीरपद्मकुहरे मर्वेषामेव षट्पदः ॥ ५० ॥
 न मे भोगम्यितौ वाञ्छा न मे भोगविमर्जने ।
 यदायाति तदायातु यन्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ५१ ॥
 मनमा मनमि च्छिन्ने निरहंकारतां गते ।
 भावेन गलिते भावे स्वम्यस्तिष्ठामि केवलः ॥ ५२ ॥
 निर्भावं निरहंकारं निर्मनम्कं निरीहितम् ।
 केवलम्पन्दशुद्धान्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥ ५३ ॥
 तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात् ।
 न जाने क गतोऽङ्गीय निरहंकारपक्षिणी ॥ ५४ ॥
 यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
 यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥ ५५ ॥
 योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
 साक्षित्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५६ ॥
 येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्जता ।
 चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ५७ ॥
 ग्राह्यग्राहकसंनवे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् ।
 स्थितियभ्यामता शान्तिर्मोक्षनाम्नाभिधीयते ॥ ५८ ॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुशवर्जिता ।
 हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवन्ति वामना ॥ ३९ ॥
 पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी ।
 आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिभ्येव तिष्ठति ॥ ६० ॥
 चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते ।
 निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥
 सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मकी ।
 सर्वज्ञता सा संतुष्टिर्ननु यत्र मनः क्षतम् ॥ ६२ ॥
 प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्निषन्निमिषन्नपि ।
 निरस्तमननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥
 मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम् ।
 आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६४ ॥
 अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः ।
 नेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६५ ॥
 आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ ।
 वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम् ।
 निर्मलायां निराशायां स्वसंविता स्थितोऽस्म्यहम् ॥ ६६ ॥
 ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ।
 अज्ञानलोपमेध्याभि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ६७ ॥
 कदोपशान्तमननो धरणीधरकोटरे ।
 समेध्यामि शिलासाम्बं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ६८ ॥

निर्गन्ध्यानविश्रान्तमूकस्य मम मस्तके ।

कदा तर्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥ ६९ ॥

मंकल्पपादपं तृष्णालतं छित्वा मनोवनम् ।

वितनां भुवमामाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ७० ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम् ।

निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥ ७१ ॥

स्वच्छनोर्जितता सत्ता हृद्यता मत्यता ज्ञता ।

आनन्दितोपशमता मदाप्रमुदितोदिता ।

पूर्णतोदारता मत्या कान्निमत्ता मदेकता ॥ ७२ ॥

इत्येवं चिन्तयन्मिक्षुः स्वरूपम्यतिमञ्जसा ।

निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥ ७३ ॥

यत एवमविद्वांसो ह्ययन्ते अतः प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मास्मीति बोधेन निर्विकल्पकब्रह्माहमस्मीत्याह—आत्मन इति । एवं प्रत्यक्परचिदैक्यं ब्रह्म भवामीति परामृष्टोऽस्मि । एवं प्रत्यगभेदेन य आस्ते सोऽयं स्वाब्जलोकवत् तिष्ठन्नपीति । यज्ज्ञानेन मुनिर्लिप्तो भवति सोऽयमात्मा ब्रह्माहमस्मीति ज्ञातुं सुलभः । सः कुत्रासनमर्हतीत्यत्र—शरीरेति । एवमात्मानं जानतो न मे भोगस्थितौ बाञ्छा । कालकर्मसंयोगवशात् यदायाति तदायातु । एवं मनसा । पुरा स्वाङ्गदशायां स्वातिरिक्तं स्वरूपं शून्यमपि सत्यवदात्मानि प्रतिभातं इदानीं स्वङ्गदशायां तत् क गतं अहमेक एवावशिष्यामीत्याह—निर्भावमिति । विचार्यमाणपुरानुभूतस्वातिरिक्तं निर्भावं अवस्तुत्वात् निरङ्कुलं देहाभावात् निर्मनस्कं अमनस्कत्वात् निरीहितं ईहनीयस्य मृग्यत्वात् तथापि स्वातिरिक्तममः सत्यवत् केवलस्यन्दुः प्रत्यक्षं तिष्ठति मे रिपुः । स्थित इति भूतार्थे स्थित इति वर्तमानप्रयोगः छान्दसः । इदानीं श्रुत्याचार्य-

प्रसादतो निष्प्रतियोगिकब्रह्ममात्रज्ञाने ज्ञानेऽथ स्वानिर्गुणास्ति त्वन्नान्तिवृष्णा-
रञ्जुगणं छित्त्वा । देहादौ नितरामहंकारममकारपक्षौ यस्याः स्वानिर्गुणास्ति नान्तेः
सेयं निरहंकारपक्षिणी क गता अहमेक एवावगिष्य इत्यर्थः । पर्य्येवं
देहादावहंभावो नादेति तज्जीवितं सफलमिष्याह—यस्येति । शीतलया बुद्ध्या
स्वातिरिक्तापशून्यया रागादौ सति धियस्तथान्वं कुतः इत्यत्र—गगोति ।
चित्तस्यान्ते चित्तावसाने ब्रह्मणि । स्वातिरिक्तवृत्त्यनुद्भूतिरेव तन्मात्रं इष्याह—
ग्राह्येति । सर्वप्राणिनां वासनाविशिष्टत्वेन प्राद्यादिज्ञानिः कुतः इत्यत्र
शुद्धवासनावजीवन्मुक्तदृष्ट्या तच्छान्तिरुदेतीत्याह—अष्टेति । प्राद्यादिकलना-
संभवं मन्यमाना शुद्धा भवति । यत्र चित्तं न संभवति तदेव चेतनमिष्याह—
चेतनमिति । यस्यां चिति असत्यं मनोन्मनीभावं भजति मा सन्मात्र-
रूपिणीत्याह—सेति । मानसतानवे देहादिव्याप्तौ मन्यमति मंविन्मात्रोऽन्मा-
त्याह—प्रलपन्मिति । स्वातिरिक्तमननानन्दः विषयज्ञानं उत्सृज्य । किञ्च—
निर्मलयामिति । तर्णे तृणचित्तम् । अविन्मात्रापद्वमिद्वचिन्मात्रस्य
निष्प्रतियोगितैव स्वच्छतादिस्वमात्रमवगिष्यत इति ज्ञानानिर्विकल्पब्रह्मं भव-
तीत्याह—स्वच्छतेति । मिथुः स्वरूपस्थितिमश्वमा प्राप्य । एवं सर्व-
वेदान्तश्रवणमनननिदिष्यासनप्रभवसम्यग्ज्ञानात्तिस्मकालमेव स्वानिर्गुणविकल्पा-
प वसिद्धनिष्प्रतियोगिकनिर्विकल्पात्मना विद्वानवगिष्यत इति सर्ववेदान्तमिद्वान्त-
सङ्ग्रहोऽर्थः ॥ ४७—७३ ॥

आतुरसंन्यासः, मंन्यासिनां प्राप्यस्थानानि च

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । न शुद्धजी-
वति तोदयाः ॥ ४७ ॥ । न यतेर्देवपूजा नोत्पददर्शनम् । तस्मान्न
संन्यासमेकलोकः । आ. रकुटीचक्रयोर्मूलैकमुक्त्वौकौ । नृदकस्य
स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्य सत्त्वलोकः ।
तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुमंषानेन
अमरकीटन्यायवत् ॥ ७४ ॥

आतुरो यदि जीवति तदा तेन किं कार्यमित्यत्राह—आतुर इति । क्रमसंन्यासमुपेयुषः परमहंसस्य चर्या कर्तव्या इत्यत आह—नेत्यादि । कुटीच-कादिषणां समानमेव तुरीयार्तातादेः अयं विशेष इत्याह—न यतेरिति । यस्मादेवं तस्मान् । कुटीचकत्वादिसंन्यासभेदानुरोधेन तत्तज्ज्ञानानुरोधेन च तत्तत्प्राप्यलोकभेदोऽपि युज्यत इत्याह—आतुरेति । मुनिः ब्रह्म संपद्यत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

संन्यासिभिः स्वरूपानुसंधानं विना नान्यत्किमपि कार्यम्

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारव-द्वयर्थः । न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न मांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्र-व्यापारो नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति, अस्ति चेच्छवालंकारवत् । चर्मकारविद्यादूरः । न परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः । यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत् । न देवता-प्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

यत एवमतः स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैः तत्तत्सिद्धान्तानुरूपं फलमेति न परमार्थफलं स्पृशति “अधीन्य गौतमीं विद्यां सागर्लीं योनिमाप्नुयात्” इत्यादिकृत्तिसतजन्मश्रवणात् । अतः शास्त्रान्तराभ्यासस्तु उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्वयर्थः । यथा चर्मकारो विद्यादूरस्तथाऽयं परमार्थविद्यातत्फल-विरलो भवतीत्यर्थः । एतन्नामाहमाश्रमान्तर इति परिव्राण्णामसंकीर्तनपरः इत्यत्र “नाम्नोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम् । वयो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥” इति श्रुतेः । न ह्यस्य वाक्यस्य भगवन्नामनिषेधोऽर्थो भवितुमर्हति । तथाच श्रुतिस्मृती भवतः ।

“एकाकी निस्पृहस्निग्धेन हि केन सहलपेत् ।

दद्यान्नायणेत्येवं प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥” इति,

“सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥”

इति । किंच भगवन्नामस्मृतिविगतौ प्रत्यवायश्रवणाच्च ।

“निवृत्ततर्पैरुपगीयमानात् भवोपवाच्छ्रोत्रमनोभिगमात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादान् पुमान् विगज्येन विना पशुघ्नान् ॥”

इति । भगवन्नाम्नः प्रत्यगभिन्नब्रह्मार्थत्वात् यतिभिर्विशेषतः मदानुमंघ्रेयमित्यत्र - -

“गशब्दस्त्वीशवार्चा स्यान्मशब्दो जीववाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म गम इत्यभिधीयते ॥”

इत्यादिश्रुतेः,

“स्वान्या श्रयपह्णवान् मिद्धा या मुक्तिर्ध्रीर्विजुंभते ।
तद्रूपतो राजमानं महः श्रीगम ईगितम् ॥”

इति नामार्थविवेकोक्तेश्च । इत्थंभूतब्रह्मनिष्ठां विना यद्यत्कर्म कगेनि तत्तत्फल-
मनुभवति एरण्डतैलफेनवत् अतः सर्व परित्यजेत् इहामुत्रभोगमाधने-
च्छयात्युग्रं तपः कृत्वा तदनुकूलेन न देवताप्रसादग्रहणं कार्यं इत्यर्थः ।
निष्कामबुद्धयानुष्ठितपसोऽनन्तफलत्वात् न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात् । यत्प्रत्यग-
भिन्नब्रह्मत्वाच्च प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म यत्र नावाह्यते तद्बाह्यदेवार्चनं तत् कदापि न
कुर्यात् ‘सोऽहंभावेन पूजयेत्’ इति श्रुतेः ॥ ७५ ॥

तेषां चर्चादिभ्यम्

स्वच्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहार-
मूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत् । माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा
कालं नयेत् । आत्मसंमितमाहारमा-रेदात्मवान्यातेः ॥ ७६ ॥

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च ।

वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥ ७७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्कचिन् ।
 निरीक्षन्तं त्वनुद्विग्नान्तद्गृहं यन्नतो व्रजेत् ॥ ७८ ॥
 पञ्चमसगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम् ।
 गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्नष्कान्तो न पुनर्व्रजेत् ॥ ७९ ॥
 नक्ताद्वरश्चोपवाम उपवासादयाचितः ।
 अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥ ८० ॥
 नैव मन्व्यापमव्येन भिक्षाकाले विशेषदृहान् ।
 नानिकामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥ ८१ ॥
 श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम् ।
 ब्राह्मणस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते ॥ ८२ ॥
 माधूकरमसंकुल्यं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
 तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ ८३ ॥
 मनःसंकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा ।
 मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥
 प्रातःकाले च पूर्वैर्गुर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः ।
 तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि च ॥ ८५ ॥
 भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम् ।
 अयाचितं तु तद्भैक्षं मोक्षव्यं च मुमुक्षुभिः ॥ ८६ ॥
 उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत् ।
 तात्कालिकमिति ख्यातं मोक्षव्यं यतिमिस्तदा ॥ ८७ ॥

सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति ।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो भोक्षकाङ्क्षिणः ॥ ८८ ॥
चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिम्लेच्छकुलादपि ।
एकान्नं न तु मुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ।
याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेन्त्यतिम् ॥ ८९ ॥
न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा ।
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥ ९० ॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने ।
कालेऽपराहे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥ ९१ ॥
अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम् ।
वर्जयित्वा चोद्भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ॥ ९२ ॥
घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्पुरया समम् ।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम् ॥ ९३ ॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ॥ ९४ ॥
घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन ।
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत् ॥ ९५ ॥
आस्येन तु यदाहारं गोक्वमृगयते मुनिः ।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९६ ॥

माधूकरेणेत्युक्तार्थं श्रुतिरेव व्याकरोति—आत्मेति । भिक्षान्निसमाह—
निरीक्षन्त इति । भिक्षां दत्तैव भोक्तव्यमिति ये निरीक्षन्ते । यथान्नमुक्ति

स्मृत्युक्तमंस्कारगतिनां हि ब्रान्यः । भिक्षां पञ्चधा विभज्य तत्रैकेन स्थितिं नयदित्याह—माधूकरमिति । तत्र माधूकरलक्षणमाह—मन इति । प्राक्प्रणीत-
लक्षणमाह—प्रातरिति । अयाचितलक्षणमाह—भिक्षेनि । तात्कालिकलक्षण-
माह—उपस्थानेनेति । उपपन्नलक्षणमाह—सिद्धमिति । एकान्नापेक्षया भिन्न-
ज्ञानिमाधूकरं श्रेष्ठमेवेत्याह—चरेदिति । यतीनां अन्नदोषो नास्तीत्यत्रोप-
पत्तिमाह—नेति । भिक्षाविधिः ग्रामिकरात्राटनयतिविषयः । यतिगिदं मे
स्यादिति इच्छापूर्वकं घृतार्दान्नाश्रयादित्याह—घृतमिति । करादग्पात्रलक्षण-
माह—पाणीति ॥ ७६-९६ ॥

यतीनां वज्यानि

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पल्लमिव गन्धलेपनमशुद्ध-
लेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव बन्धमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव
मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डाल-
वाटिकामिव त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशान-
म्यलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम् । न
देवतार्चनम् ॥ प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ॥ ९७ ॥

मन्त्रोक्तार्थं ब्राह्मणोऽप्यनुवदति—आज्यमिति । ब्रह्मातिरेकेणाज्यादिकं
नास्ति ब्रह्मैव सर्वमिति सर्वात्मभावत्वेन मुनिः जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ९७ ॥

षड्यतिपातकानि ; पातित्ये दोषनिर्मुक्तं च

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः ।

दिवास्वापो वृथालपो यतीनां पातकानि षट् ॥ ९८ ॥

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् ।

उक्तान्वादिपात्राणामेकस्यापी, सङ्ग्रहः ॥ ९९ ॥

यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते ।
 गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥ १०० ॥
 कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः ।
 शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ १०१ ॥
 शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यभंगः ईरितः ।
 विद्या दिवा प्रकाशत्वाद्विद्या रात्रिरुच्यते ॥ १०२ ॥
 विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते ।
 आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्त्तां विना तथा ।
 अनुग्रहं परिग्रहं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥ १०३ ॥
 एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम् ।
 ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रमायनम् ॥ १०४ ॥
 कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च कथविक्रयम् ।
 क्रिया कर्मविवादश्च गुरुशास्त्रविलङ्घनम् ॥ १०५ ॥
 संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम् ।
 शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु नैजमम् ॥ १०६ ॥
 विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैस्त्विष्यं च मैथुनम् ।
 त्यक्तं संन्यासयोगेन गृह्यमाणं व्रतम् ॥ १०७ ॥
 गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम् ।
 प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो ब्रजेदधः ॥ १०८ ॥
 सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान्जीषु न विभ्रसेत् ।
 सुजीर्णास्त्वपि कन्धासु सज्जते जीर्णमन्त्रम् ॥ १०९ ॥

म्यावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् ।

पडेतानि न गृहीयाद्यनिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११० ॥

नैवाददीन पाथेयं यतिः किञ्चिदनापदि ।

पक्वमापत्सु गृहीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ॥ १११ ॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावमथे वसेत् ।

परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथंचन ॥ ११२ ॥

दैन्यभावात्तु भूतानां मौभगाय यतिश्चरेत् ।

पक्वं वा यदि वापक्वं याचमानो ब्रजेदधः ॥ ११३ ॥

अन्नदानपरो भिक्षुर्वन्त्रादीनां प्रतिग्रही ।

आविकं वानाविकं वा तथा पटुपटानपि ॥ ११४ ॥

प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः ।

अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तन्वमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

वाग्दण्डे मौनघ्नातिष्ठेत्कायदण्डे त्वमोजनम् ।

मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ११६ ॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।

तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७ ॥

रथ्यायां बहुक्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते ।

भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥ ११८ ॥

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः ।

आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥ ११९ ॥

प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी ।
 ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरी भाक्तमेव च ॥ १२० ॥
 नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छनः ।
 जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥ १२१ ॥
 सर्वेषामेव पापानां संधाते ममुपस्थितं ।
 तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि नत ॥ १२२ ॥
 यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।
 तस्य द्वादशभिर्मसैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥ १२३ ॥
 इत्युपनिषत् ॥

मुनेरपीदं आसनादिषट्कं बन्धके भवतीत्याह—आसनमिति । स्वकृत-
 सूत्रार्थं श्रुतिः स्वयमेव व्याचष्टे—वर्षाभ्य इति । एकान्नादिप्रतिषिद्धवर्मा-
 चरणफलमाह—एकान्नमिति । स्वस्ति प्रियवाक्यम् । ज्योतिश्च देवज्ञत्वम् ।
 एतत्सर्वं त्यक्तम् । एकान्नादिनिषिद्धाचरणं कदापि त्रियं वीक्ष्य न्या सह
 रहसि न संवदेदित्यत्रोपपत्तिमाह—मुजीर्णोऽपीति । केदारभृत्यर्वाजमुवर्ण-
 विषयुधपरिग्रहं कदापि न कार्यमित्याह—स्वावरमिति । अनापदि पाशंयं
 न ग्राह्यमित्याह—नैवेति । पुनर्यतेर्ह्योपादेयावाह—नीरुजश्चेत्यादि । आवसथे
 संसारिगृहे । धाष्टर्यभावं विहाय यस्तिष्ठति स्वस्मिन् दीनोऽयं साधुग्न्यनुकम्पा
 भक्तिः श्रद्धा वा भूतानां यथा भवेत् तथा दैन्यभावान् साधुभावान् यतिर्भूतानां
 सौभगाय श्रेयसे चरेत् कदाप्युद्वेजनं न कुर्यादित्यर्थः । यद्वा भूतानां
 दैन्यभावात् तेष्वार्तत्वमवगम्य तच्छ्रेयसे यतिश्चरेदित्यर्थः । कदापि स्वदेहधारण-
 मात्रेतरप्रतिग्रहं दानं वा न कुर्यादित्याह—पक्वमिति । द्वैतदीर्घादीनां
 तीर्त्वा तत्पारब्रह्मभावमेव जीवन्मुक्तो भवेदित्याह—अद्वैतमिति । वाक्मनः-
 कायवृत्तौ सत्यां जीवन्मुक्तता कुत इत्यत्र तन्निग्रहोपायमाह—वागिति ।
 बन्धहेतुः कर्मेति विदित्वा कर्मसंन्यासं कुर्वन्तीत्याह—कर्मजेति । यस्मादेवं

तस्मान् । यर्नानां दुःखाभावमाह—रथ्यायामिति । निरग्रेष्यग्निहोत्रित्वमाह—
 प्रपञ्चमिति । परापरब्रह्मविषयकप्रवृत्तिः द्विधा भिद्यत इत्याह—प्रवृत्तिरिति ।
 ज्ञानाभ्यासवतां निर्विशेषब्रह्ममात्रज्ञानिनां ज्ञानसमकालस्वभावापत्तिदृष्टान्तोऽयं
 ओतुः विडालः तस्य क्षणध्यानमात्रतो लक्ष्यप्राप्तत्वात् । अपरब्रह्मविषया
 प्रवृत्तिस्तु वानरी भान्तमेव च मर्कटमुष्टिन्यायेन क्रमेण कार्यसाधिका
 भवतीत्यर्थः । विद्वान् जडवह्नोक्ताचरेदित्याह—नेति । पापराशौ सति विद्वत्ता
 कुतः इत्यत्र प्रणवनिष्ठाग्निना पापकुलपर्वते भस्मावशेषितेऽथ विद्वान् भूत्वा
 ब्रह्ममात्रपर्यवसन्नो भवतीति शान्त्रमुपसंहरति—सर्वेषामिति । अर्थानुसन्धान-
 पूर्वकं तारं द्वादशसाहस्रं अभ्यसेत् । तस्य द्वादशभिर्मासैः चित्तशुद्धि-
 प्राप्यज्ञानद्वारा परं ब्रह्म स्वावशेषधिया प्रकाशते इत्युपनिषत् इति ।
 द्वादशसहस्रप्रणवजपतश्चित्तशुद्धिरुदेति ततः श्रुत्याचार्यप्रसादलब्धज्ञानं भवति ।
 निर्विशेषसम्यग्ज्ञानसमकालं विद्वान् कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । इत्युपनिषत् २६ः
 संन्यासोपनिषत्समाम्यर्थः ॥ ९८-१२३ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः

श्रीवामुदेवेन्द्रशिष्योपनिषद्ब्रह्मयोगिना ।

संन्यासोपनिषद्ब्रह्माख्या लिखिता ब्रह्मगोचरा ।

संन्यासोपनिषद्ब्रह्माख्याग्रन्थस्तु द्विशतं स्मृतः ॥

इति श्रीमदीशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषच्छास्त्रविवरणे पञ्चषष्टिसंख्यापूरकं

संन्यासोपनिषद्द्विवरणं संपूर्णम्

नामधेयपदसूची

यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यग्रेखायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिर्बोद्ध्या

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---------------------------|-----------------------|-------------------------|--------------------|
| अग्निः . . . | ४०, ४६, २१४ | निदाघः . . . | ४७, ७६, २१५ |
| आदित्यः . . . | १७८ | नैमिसारण्यम् . . . | ५५ |
| आदित्यारायणः . . . | ५१, १६१ | परब्रह्मपुत्रम् . . . | १४९ |
| आरुणिः . . . | ९, ४७, १९१, २१५ | परमेष्ठी . . . | ५९-२, ११७-२ |
| ईश्वरः . . . | १७८ | पितामहः ५१, ५९-२, ८२-२, | |
| ऋतुः . . . | ४७, ७६, २१५ | ८७-२, १०४-२, ११३, | |
| ऋषभः . . . | ७६ | १२७, १३१, १६१ | |
| ऐक्ष्वाकः . . . | १९३ | पिप्पलादः . . . | १४९ |
| कैलासः . . . | १९९ | प्रजापतिः . . . | ९ |
| गौतमः . . . | १९० | वृद्धव्यः . . . | १९३, १९५ |
| जठभरतः . . . | ४७, १९१ | वृहस्पतिः . . . | ३८ |
| जनकः . . . | ४२, २१३ | ऋषा . . . | १५६, १६६, १६८, १७८ |
| दत्तत्रेयः . . . | १-२, ४७, ७६, १९१, २१५ | मन्त्राजः . . . | १९० |
| दुर्वासाः . . . | ४७, ७६, २१५ | महादेवः . . . | १९९ |
| नारदः ५५, ५६, ५९-५, ६१, | | मैत्रेयः . . . | १९९ |
| ८२, ८७, १०४, ११०, | | महात्मन्यः ३८-३, ४०-२, | |
| ११२-२, ११३, ११७, १२७, १७१ | | ४२-३, ४५, ४६-४, १९०, | |
| नारायणः ३४, ५१-२, १६६ | | २१३, २१४-२ | |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-----------------|-----------------|------------------|------------------|
| स्त्रः . . . | १५६, १७८ | शौनकः . . . | १४९, १६० |
| रैवतकः . . . | ४७, ७६ | श्वेतकेतुः . . . | ४७, ७६, १९१, २१५ |
| वसिष्ठः . . . | १९० | सहस्रः . . . | १९३ |
| वामदेवः . . . | १९१, २१५ | साङ्कृतिः . . . | १ |
| विष्णुः . . . | १५६, १६८, १७८-२ | संवर्तकः . . . | ४७, ७६, १९१, २१५ |
| शाकगयन्यः . . . | १९३, १९५ | हारीतकः . . . | १९१, २१५ |
| शुकः . . . | १९१, २१५ | | |

विशेषपदः ची

यत्र पुटसंख्यानन्तरं तिर्यगेस्त्रायाः परं संख्या वर्तते तत्र तावती पदावृत्तिर्बोध्यः

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|-------------------|------------|-------------------------|--------------|
| अकल्पितभिक्षाशी | १३४ | अक्षरस्वरस्यम् | १२९ |
| अक्षरः | १२१ | अनाहतमन्त्रः | १४६ |
| अक्षरांशः | १६७ | अनाहताङ्गी | १३६ |
| अक्षयम् | १३४ | अनिमित्तसंन्यासः | ९०-२ |
| अग्निवर्णम् | २९ | अनियामकत्वनिर्मल्यार्थः | १३५ |
| अग्निष्टोमः | १९ | अनुसन्धानम् | १०७, ११७ |
| अग्निहोत्री | २५८ | अन्तर्जीवकम् | १५५ |
| अङ्कुशः | १३५ | अन्तर्दिश्वोपवीतित्वम् | १५४ |
| अजगरवृत्तिः | ९४, ११६ | अन्तर्द्वारकम् | १५४ |
| अजपा | १३५ | अन्तर्प्रणवः | ११७, १२०-२ |
| अजिनम् | ११६ | अन्धः | ७१ |
| अजिह्वः | ७० | अपरसन्धि | १५१ |
| अज्ञाननिर्मान्यम् | १९९ | अमयम् | १२ |
| अतिवर्णाश्रमी | १०९-२, ११० | अमोक्षम् | २५८ |
| अद्वैतप्रान्विः | १५६ | अम्वज्जम् | २५६ |
| अद्वैतसदानन्दः | १३५ | अग्रभ्यामित्युत्तरम् | १३५ |
| अद्वैतसदानन्दः | ३१ | अमरपदम् | १३५ |
| अद्वैतसदानन्दः | १२० | अद्वैतः | ४२, २२८, २३० |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---------------------------------|----------------|------------------------------|------------------|
| अमृतकञ्जोलनदी | १३४ | आत्मनिष्ठा | २३४ |
| अमृतकञ्जोलानन्दक्रिया | १३५ | आत्मविद्यातपोमूलम् | १८७ |
| अमृतत्वम् | ३, १२७ | आत्मश्राद्धम् | १६३ |
| अयहोपवीती | ७४ | आत्महा | १७३ |
| अयन्क्षौरम् | ११६ | आत्मा | ४०-२, १२९, १९५-२ |
| अयाचितम् | २५४ | आत्मारामः | ३७ |
| अयुतावयवान्वितः | १२० | आदानम् | १०६ |
| अर्थाः | १९५ | आदित्रय | १३५ |
| अर्धमात्रः | १२१ | आनन्दः | २, १८७ |
| अर्धमात्राप्रणवः | ११७ | आनन्दग्रहणम् | १०६ |
| अर्धमात्रांशम् | १६७ | आनन्दभिक्षाशी | १३५ |
| अलाबुपात्रम् | १३ | आनन्दभाल | १३४ |
| अवधूतः १-२, २, ५२, ९२, ९४, २४४ | | आनन्दवनम् | १३५ |
| अवधूतमास्थिः | ५१ | आन्तरप्रणवः | ११६ |
| अवस्था | १०४, १०५, १०७ | आरुढच्युतः | २३२ |
| अक्षिपुष्पम् | ३८-२, ४०-३, ४१ | आर्षप्रणवः | ११८ |
| अव्ययम् | २२४ | आसन्नम् | २५६ |
| अष्टश्राद्धम् | ८३ | उत्तरांशः | १६७ |
| असिपत्रवन्त्रेणी | ६८ | उत्पत्तिप्रणवः | १२० |
| अस्त्रप्रः | १६५ | उत्सर्गः | १०६ |
| अहंका | १८ | उदरपात्रम् | १४ |
| आकाशाचारम् | १३५ | उदरशीतलोपीणम् | १३४ |
| आग्नेयी | १६२ | उन्मयी | १२१, १३५ |
| आज्यम् | २५६ | उन्मन्यस्त्या | १३५ |
| आतुरः | ६३, ९० | उपदेशाधिकारः | ११६ |
| आतुरकालः | ६२ | वपपत्रम् | २५५ |
| आतुरकटीकौ | ९४ | उत्सर्पणम् | २३७ |
| आत्मकिन्ता | १०६ | उत्सर्पणम् | ११६ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|--------------------------|------------------|---------------------------------|------------------|
| ऊर्ध्वपुण्ड्रविपुण्ड्रम् | ११६ | कल्पविदग्गः | ३४ |
| ऊर्ध्वत्रायः | १३४ | काठिन्यदृक्कौपीनम् | १४६ |
| ऋतुक्षौरम् | ११६ | कामकार्सी | ४ |
| ऋतुद्वयक्षौरम् | ११६ | कामादिबुद्धिदहनम् | १४६ |
| ऋषिः | १३४ | काल्मषत्रपदवी | ६८ |
| एककौपीनम् | ११६ | कुटीचकः ९१, ९३, १९०, २०५-२, २४३ | |
| एकत्राश्रम् | २५६ | कुण्डलिनीवल्ग्वः | १३५ |
| एकदण्डा | ८०, ९७, १७३-२ | कुक्षेत्रम् | ३८-३ |
| एकयज्ञोपवीती | १६० | कृतकृत्स्नम् | ५ |
| एकत्रारम् | ११५ | कैलिः | १३४ |
| एकशाटी. | ११६ | कैवलः | २४८ |
| एकान्तम् | २०२ | कैवल्यम् | ८१, ९६, १३२, २५१ |
| एकान्तस्थानमष्टम् | १३५ | कैवल्याश्रमः | ६५-४ |
| एकाश्रम् | ११६, २५५ | कौपीनम् | १२ |
| एकासनगुहा | १३४ | कौपीनाधारम् | ८६ |
| ओम् हि | १४-३ | क्रमसंख्यायः | ९०, २५१ |
| कथा | १३६ | क्रीडारतिः | १०६ |
| कन्या | १३५ | क्रौर्यबुद्धिः | १०६ |
| करपात्रम् | ११६ | क्षारम् | २५६ |
| कल्पा | १३४ | क्षीरम् | २५५ |
| कर्म | ६४ | खण्डम् | ११६ |
| कर्मनिर्मूलम् | १३६ | खेचरिमुद्रा | १३५ |
| कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यम् | १०४ | गगनसिद्धान्तः | १३४ |
| कर्ममर्मज्ञाता | १४९ | गतिः | १३५, १९४-२ |
| कर्मसंन्यासः | ८८ | गन्धः | २४५ |
| कर्मसंन्यासी | ८९, ९०, २४२, २४३ | गन्धलोमम् | २५६ |
| कथ्य | १२१ | गावत्री | १३५ |
| कन्धर्वतीता | १२१ | गार्हपत्यम् | ५६ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|---------------------------------------|------------|--------------------------------------|---------------|
| गुहः | ३० | जाग्रतैजसः | १६७ |
| गुहान्द्रादिकम् | ८६ | जाग्रत्प्राज्ञः | १६७ |
| गोदोहनात्रम् | २५४ | जाग्रत्स्वप्नसुषुमितुरीयाः | १०४ |
| गोवालम्पट्टाम | २ | जाग्रद्विश्वः | १६७ |
| गोमुदम् | ९४, ११६ | जातरूपघनत्वम् | ११६ |
| ग्रामः | ६९, ११४ | जितेन्द्रियः | ६७, १००-२ |
| घृतम् | २५५ | जीवः २५-२, १०६-३, १०७, | |
| चतस्रोऽवस्थाः | १६७ | १८६, १९९ | |
| चतुरङ्गमुल्लेख्यम् | १५६ | जीवत्वम् | १०७-२ |
| क्षुब्धस्था | १५६ | जीवन्मुक्तः ९६, ०४, १३५, ०५६ | |
| क्षुर्काकरणप्रवृत्तिः | १६३ | जीवन्मुक्तत्वम् | २५८ |
| क्षुर्विधत्रयार्चयम् | ५७ | जीवितम् | २४८-३ |
| क्षुब्धपदम् | २ | जातकदेष्टः | २५६ |
| क्षुष्पादं ब्रह्म | १७७ | ज्ञानम् ६४, १०४, १०६, | |
| क्ष्वारि स्थानानि | १७७ | १५९-२, १८३-२, १९९ | |
| चातुर्विध्यज्ञानप्रस्थधर्मः | ५७ | ज्ञानदण्डः | २२७ |
| चित् | २१९-६, २४६ | ज्ञानपरः | ८० |
| चित्पदम् | १९५-३, २२२ | ज्ञानमयी | १६० |
| किन्धयम् | १३५ | ज्ञानमयीशिखा | १८३ |
| किराजिनदानः | १४६ | ज्ञानयज्ञः | २२७ |
| जगज्जीवनम् | ८६, २४१ | ज्ञानयज्ञोपवीतिनः | २२७ |
| जडवत् | २५९ | ज्ञानदृढः | २०४ |
| जवः | २३ | ज्ञानकैराम्यसंन्यासः | ८८-२ |
| जन्ममृत्युप्रहाणिः | १२८ | ज्ञानकैराम्यसंन्यासी ८९, २४२, २४३ | |
| जडरामाववत् | १५१ | ज्ञानशिखाः | २२७ |
| जान्तरितम् | ९५, १८६ | ज्ञानसंन्यासी | ८९, ९०, २४२-२ |
| जाग्रत् | १०५ | झाडौ | १२८ |
| जाग्रदुत्पत्तिः | १६७ | ज्येष्ठज्येष्ठव्यवधानरहितः | १६९ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------------|-----------|---------------------------------------|-----------|
| तत्त्वचिन्ता | २०३ | त्रिपदशकानम् | ११५ |
| तत्त्वबल्यम् | १३५ | त्रैधातुर्वाया . १४, ३३, १६३, २१३ | |
| तपः | ३५ | त्वं ब्रह्म | १८ |
| तपोयज्ञः | २२३ | उण्डः | १२ |
| तपोलोकः | ९४, २५१ | उल्लापः | १३ |
| तात्कालिकम् | २५४ | दिगम्बरम् | ११६ |
| तारम् | २५९ | दिशान्वापः | २५३ |
| तारकम् | ११३ | दीक्षा | ३२ |
| तारकं ब्रह्म | ३८ | दीक्षामंतांषपादनम् | १३४ |
| तारकोपदेशः | १३५ | देवता | १३४ |
| तिलकपुण्ड्रम् | ११६ | देवयजनम् | ३८-३ |
| तीर्थभ्रान्तिः | २०३ | देवात्मशक्तिः | १२७ |
| तुरीयम् | ९५, १८६ | देवार्चनम् | ११६ |
| तुरीयतैजसः | १६७ | वहः १९९, २००-२, २४४ | |
| तुरीयप्राज्ञः | १६७ | द्वान्निष्ठात्तन्त्रनिष्कयः | १५६ |
| तुरीयविश्वः | १६७ | द्वारकादित्यावलोकनम् | १३४ |
| तुरीयस्य चानुर्विध्यम् | १६७ | द्वितीयः पादः | १२४ |
| तुरीयातीतः ९२, ९४, २४४ | | द्विशतम् | ११५ |
| तुर्गतुरीयः | १६७ | द्वैतभगवन् | २०१ |
| तुर्वातीतत्वम् | १०५ | धनवान् | १३२ |
| तृतीयः पादः | १२५ | धन्योऽहम् | ७, १६ |
| तैजसः | ९५ | धर्मन्धनम् | ६५ |
| तैजसस्य चानुर्विध्यम् | १६७ | धीरः | १३९ |
| तैलम् | २५५ | धैर्यकथा | १३४ |
| त्यागः | १३५ | ध्यानम् | १९९ |
| त्रिदण्डी | १०९ | ध्याननिष्ठा | १६९ |
| त्रिपुण्ड्रम् | ११६ | ध्यानाधिकारः | ११६ |
| त्रिस्तम्भम् | १८० | ध्रुवशीलः | १३ |

| पदम् | पुटम्ख्या | पदम् | पुटम्ख्या |
|---|-----------|---|----------------|
| नगरम् | ११४-२ | पङ्क्तुः | ७१ |
| नगरायते. | ६९ | पञ्चपादब्रह्म | १५५ |
| नरः | २३ | पञ्चमाना | २२४ |
| नवतत्त्वम् | १५६ | पञ्चयज्ञाः | २२७, २२६ |
| नाडीत्रयम् | १५१ | पञ्चविंशतितत्त्वानि | १०४ |
| नादः | १२१, १५७ | पण्डकः | ७० |
| नारका | ७९ | पतितः | २०३, २३९ |
| नासी | ४०, ४१ | पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् | १३५ |
| नित्यविनिश्चलः | ३४ | पन्थाः | १६३ |
| निदिध्यामनम् | ३१, ११७ | परमहंसः ४९, ९१, ९३, ९४, १३४, १७२, १७३, १९१, २१५-२, २०७-२, २४४ | |
| निद्रालस्यौ | १०६ | परमहंसपरिज्वाजकः | १६५, १६९ |
| निमित्तसंन्यासः | ९०-२ | परमहंसपरिब्राट् | १६९ |
| निरञ्जनम् | १३४ | परमानन्दपुर्णः | ५ |
| निरहङ्कारपक्षिणी | २४८ | परमानन्दी | १३५ |
| निरात्मन्वर्षाठम् | १३४, १३५ | परमार्थता | ४ |
| निर्गुणमुणत्रयम् | १३५ | परमेश्वरः | १९५, २१६ |
| निर्गुणप्रणवः | १२० | परमेश्वरसत्ता | १३५ |
| निर्देशश्रुतकन्यायः | ९६ | परसन्धि | १५१ |
| निर्मलग्राजम् | १३५ | परा | १२१ |
| निर्वाणः | १३४, १७९ | परापरविदः | ३६ |
| निर्वाणदर्शनम् | १४८ | परापवादमुक्तः | १३५ |
| निर्विकल्पः | २५० | परावरसंयोगः | १३५ |
| निष्कूलप्रवृत्तिः | १३४ | परावरैक्यरसास्वादनम् | १३५ |
| निष्कैवल्यज्ञानम् | १३४ | परिज्वाजकाः | १३४ |
| विश्वैश्वर्यस्वरूपानुसन्धानम् | १४६ | परिब्राट् | ६१, १३२-२, २३३ |
| नित्यसंज्ञः | १३४ | परेच्छाकरणम् | १३४ |
| नीलमतिः | १०९ | | |
| नैऋत्यः | २४६ | | |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|------------------------------------|-----------|------------------------------------|-----------|
| परब्रह्मवचदाचरणम् | १४७ | प्राक्प्रणीतम् | २५४ |
| पवित्रम् | ३२ | प्राजापत्या | ४४, १६२ |
| पश्चिमलिङ्गाः | १३४ | प्राज्ञः | ९५ |
| पश्यन्ती | १२१ | प्राज्ञस्य चातुर्विध्यम् | १६७ |
| पाणिपात्रम् | १४ | प्राणदेवताः | १५१ |
| पाण्डुरगन्धमहामिद्वान्तः | १३५ | प्राणहंसः | १५२ |
| पातकानि | ७१, २५६ | प्राणायामः | २५८ |
| पातिलम् | ६३ | प्रापञ्चिकशिखोपवीतम् | १५७ |
| पात्रलोपः | २५७ | प्रियम् | २ |
| पापबुद्धिः | १०६ | प्रैषाभिः | २४१ |
| पारविवर्जितः | ३४ | प्रैषोच्चारणम् | १६४ |
| पारहंस्यम् | २२० | फलम् | २५-२ |
| पुण्यावृत्तिः | १०६ | वर्षः | ७१ |
| पुरी | १२१ | बह्निस्तुत्रम् १५९, १६०, १८१, १८२ | |
| पूजा | २०४ | बहुवचनम् | ४ |
| पौलक्यः | १७३ | बहुवचनः ९१, ९३, ९४, १९१, | |
| प्रणवः | १५७-२ | २२५-२, २४३ | |
| प्रजापतिः | १७ | बाह्यप्रणवः | ११८ |
| प्रणवहंसः | १५२ | बाह्यार्कनम् | २०४ |
| प्रणामः | २१६ | बिन्दुः | १२१ |
| प्रतिषिद्धानि | ७८, २५७ | बुद्धिः | १०४, १०६ |
| प्रतिष्ठा | ९८ | क्रिया २२-४, २३, ३३, ३५-२, | |
| प्रत्यन्वेतनम् | २४९ | ४५, ६४, ७३, १०७, १२०, | |
| प्रथमः पादः | १२४ | १२३-२, १२८, १५७, | |
| प्रमाणम् | २५-२ | १६७, १७९, २०८, २१४, | |
| प्रमाता | २५-२ | २२३, २३०, २३३, २४०, २५९ | |
| प्रमेयम् | २५-२ | प्रज्ञम् | १२८-२ |
| प्रमोदः | २ | प्रज्ञाकर्म | १२७ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|------------------------------------|-----------|--------------------------------|---------------|
| ब्रह्मव्यशान्तिसंग्रहणम् | १४७ | मैत्रेयसुक्त | ६४, ६५-२ |
| ब्रह्मचारिणः | ४२ | अमर्गकीटन्यायः ७६, ९४, १०३, | |
| ब्रह्मत्वम् | १५२ | | १०४, २५१ |
| ब्रह्ममुच्छ्रम् | २, २३ | आन्तिहन्तम् | १४६ |
| ब्रह्मप्रणवः ११६, ११७, ११८, | | मकारः | १२१ |
| १२२, १२६, १६६-२, १६७ | | मकारांशः | १६७ |
| ब्रह्मभूतः | २१९ | मटः | १३५ |
| ब्रह्मभूयमे | १०० | मधु | २५५ |
| ब्रह्मसदनम् | ३८-३ | मध्यमा | १२१ |
| ब्रह्मभूतम् | १०, १५९ | मनः | १०४, १९५, २२२ |
| ब्रह्मस्वरूपम् | १२७ | मननम् | ११७ |
| ब्रह्महा | १७३ | मनोनिरोधिनी | १३५ |
| ब्रह्माकाशः | १२६ | मनोन्मनी | १२१ |
| ब्रह्मान्त्रण्डाकागम् | १४७ | मनोवागमोचरम् | १३५ |
| ब्रह्माण्डादि | २२ | मन्त्रचिन्ता | २०३ |
| ब्रह्मानन्दः | २४ | मन्त्रजपाधिकारः | ११६ |
| ब्रह्मावलोकनयोगपट्टः | १३४ | मन्मथक्षेत्रपालाः | १३४ |
| ब्राह्मणः | ८१ | महामखः | ३ |
| मग्वान् | २१६ | महायोगः | ३ |
| मन्मथानम् | ११५ | महावाक्यम् | १६४ |
| मन्मोहूलम् | ११६ | महानाच्योपदेशाधिकारः | ११६ |
| भास्वविलक्षणः | ३४ | महावीचिवापुरा | ६८ |
| भिक्षाचरणम् | २५५ | महाव्रतम् | ४ |
| भुवर्लोकः | २५१ | महास्मशानम् | १३५ |
| भूतः | १५१ | मात्राः | २२४ |
| भूतात्मा | १९५ | मात्वम् | १९ |
| भूर्लोकः | २५१ | माधूकरम् | ११६, २५४ |
| भेदः १९९, २०१-२, २५४-२, २५५ | | मानसज्ञानम् | ११५ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|--------------------------------|-----------|---------------------------|-----------|
| मानसार्चनम् | ११६ | यथोक्तः | ६९ |
| मानुषप्रणवः | ११६ | यन्मन्युः | ३१ |
| मायाममताद्वैतारदहनम् | १३६ | यन्मृत्युः | २० |
| मार्गः | १३५ | यादृच्छिकः | ७५, ११२ |
| मार्जारी | २५९-२ | योगयज्ञः | २२७ |
| माषापृषादि | २५५ | योगी | ४ |
| मित्राद्वैतदकम् | २५६ | गज्जुनपर्वत | १३५ |
| मिथुनम् | ६९ | गमः | २४५ |
| मुक्तः ५७-२, १३१-२, २०१, २०४ | | रमास्वादनम् | १०६ |
| मुक्तस्य लक्षणम् | ६९ | राजधानी | २५६ |
| मुक्तासनमुक्तगोष्ठी | १३४ | रूपम् | २४५ |
| मुक्तिः | २०२ | रूपग्रहणम् | १०५ |
| मुग्धः | ७१ | लौकिकम् | २०० |
| मुमुक्षुः | १११ | वन्धा | ४०, ४१ |
| मूढः | २०३ | वस्त्रम् | २५६ |
| मृत्पात्रम् | १३ | वाक्यापारः | १०६ |
| दैवः | १११ | वानप्रस्थाश्रमः | ५६ |
| मैथुनमष्टाक्षम् | २१ | वाक्परी | २५९-२ |
| मोक्षः | १४६ | वायव्यज्ञानम् | ११५ |
| मोक्षसाधनम् | १६० | वासना | २४९ |
| मोक्षाश्रमः | २३१-२ | विकारदण्डः | १३५ |
| सोदः | २ | विशेषः | ६-२ |
| मौनम् | २५८ | विचारदण्डः | १३४ |
| यज्ञोपवीतम् ४६, ८५-२, १६५. | | विवेकमुक्तिः | १६७ |
| १६८, १८१, १८४, २३७ | | निद्वत्संन्यासी | ८५ |
| वर्तिविशेषः | ९३ | विदुः | २४४ |
| वर्तिवृत्तिहा | ९७, १७३ | विशेषोपदेशः | १३४ |
| वर्तेर्निगमः | ११३ | विश्राद्धोमः | १६३ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|--|---------------|--|-----------------|
| विगद | १२० | शतावयवोपेतः | १२० |
| विराट्प्रणवः | ११८, १२०, १२१ | शब्दः | २४४ |
| विविदिषामन्त्यामी | ८६ | शब्दग्रहणम् | १०५ |
| विवेकगुहा | १३४ | शरीरम् | ८४, १९४ |
| विवेकलभ्यम् | १३५ | शरीरत्रयम् | ७६ |
| विश्वः | ९५ | शबालंकारवत् | ९६, २५२ |
| विश्वमायानिष्ठानिः | १२८ | शाटीद्वयम् | ११६ |
| विश्वरूपः | २२९ | शान्तिः | १०६, १२१, २४८-२ |
| विश्वस्य चातुर्विध्यम् | १६७ | शान्तिदान्ती | १०४ |
| विश्वायमनुसयोगम् | ३२ | शान्त्यतीता | १२१ |
| विश्वासः | २०२ | शारदाचेष्टा | १३५ |
| विष्णुलिङ्गम् | २३१-२ | शाश्वतम् | १८५ |
| विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् | १३५ | शान्तिचिन्तनम् | २०३ |
| वृथाजल्पः | २५७ | शिखा | १३५, १८४, २३७ |
| वेदपुरुषः | ५१, १६९, १७१ | शिखी | ७४, १५९, १८३ |
| वेदयोनिः | १५२ | शिवम् | १३० |
| वेदाङ्गशासनम् २२४, २२८, २३२, २३३, २३४ | | शिवयोगनिद्रा | १३५ |
| वैजयम् | २४१ | शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम् | १३५ |
| वैराग्यम् | १०४, १०६ | शिष्यसंग्रहः | २५७ |
| वैराग्यसंन्यासः | ८८ | शीतवातोष्णत्राणक्रमम् | ८६ |
| वैराग्यसंन्यासी | ८८, ९०, २४२-२ | शुक्लध्यानपरायणः | ७६, १९१ |
| वैश्वानरेष्टिः | २३६ | शुद्धम् | २५-२ |
| व्यक्तम् | २६४ | शुद्धचेतनः | २३५ |
| व्यवहारः | ६-२ | शुद्धशौचम् | २०० |
| व्यापाराः | १०५ | शून्यम् | १३५ |
| व्यापारिकप्रणवः | ११८ | श्रद्धः | १७ |
| व्यक्तीयम् | ४२ | शौचम् | १९९, २०१-२ |
| | | श्रद्धम् | १७७ |

| पदम् | पुट्यंख्या | पदम् | पुट्यंख्या |
|-----------------------------------|--------------|----------------------------------|-------------------|
| षट्पदवृत्तिः | १३० | मवैलोकित्मकः | ५ |
| षट्पदविरहितः | ११४ | मवैविद्य | १८० |
| षड्भावविकारगूल्मः | ११४, १३२ | मवैविन्न्यामः | १४७ |
| षड्विधगार्हस्थ्यम् | ५७ | मवैवेदः, नमिद्वान्तमरः | २५ |
| षण्णवतितत्त्वानि | १७६ | मवैगन्धेहनफलम् | १४७ |
| षोडशमात्रात्मकः | १६६ | मवैजलमः | १०९ |
| षोडशमात्रात्मकत्वम् | १०१ | महत्वावयवान्वितः | २२० |
| षोडशमात्राब्दाः | १६७ | माक्षी | ६, १०७, १८५ |
| सङ्केतः | १३५ | माधनक्तुष्टयसंपन्नः | ५७, २३९, २४० |
| सच्चिदेकरसः | १२५ | मुक्त्वम् | १८५ |
| सम्बन्धः | २५७ | मुक्त्वम् | २५६ |
| सम्भारः | १०६ | मुपुमम् | १५, १०५, १२४, |
| सत्यलोकः | १४, २५१ | | १२५-७, १८६ |
| सत्यसिद्धियोगः | १३५ | मुपुमपुरायः | १६७ |
| सत्त्वम् | १९५ | मुपुमतेजसः | १६७ |
| सदानन्दस्वरूपदर्शनम् | १३५ | मुपुमप्राज्ञः | १६७ |
| सद्यतिः | ७७ | मुपुमविश्वः | १६७ |
| सनामधेयः | २९ | मुपुमसवेनाकाशवत् | १५१ |
| सन्ततोक्षिकमण्डलम् | १३६ | मृत्रम् ७४-६, १५८-३, १५९-५, | |
| सन्धानम् | १५७ | | १८१-४, १८२, १८३-२ |
| सन्ध्या | ४१, १७३, २०२ | सूत्रविदः | १५९ |
| सपवित्रम् | १६९ | सृष्टम् | २५५ |
| सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धः | १५६ | सूरयः | २०४ |
| समास्त्यलम् | २५६ | सृष्टिप्रणवः | ११७ |
| समता | २४६ | सोऽङ्गम् | १३४ |
| समयः | १४६ | सोऽङ्गभावः | १९९ |
| समाधिः | ६-२ | सोऽङ्गभावना | १९६ |
| सर्वभूतान्तर्बर्ती | १३४ | संस्कृतः | २३६ |

| पदम् | पुटसंख्या | पदम् | पुटसंख्या |
|----------------------------------|--------------|---------------------------|-----------|
| मन्त्रस्तोत्रम् : | २२५ | स्वप्नप्राज्ञः | १६७ |
| मन्त्रायः ८७, १४७, १६४, २०२, २३६ | | स्वप्नविश्वः | १६७ |
| मन्त्रोद्देशः | १३४ | स्वप्नप्रकाशश्रवणतत्त्वम् | १३५ |
| मन्त्रोद्देशः | २४९-३ | स्वप्नस्थितिः | २०५ |
| मन्त्रणम् | १, ३ | स्वप्नानुसन्धानम् | १३२ |
| मन्त्रागत्यक्रमः | ११७ | स्वप्नलोकः | १४, २७१ |
| मन्त्रागः | १२० | स्वप्नः | १८ |
| मन्त्राग्रणवः | ११७, ११८ | स्वप्नवित् | १३५ |
| मन्त्रा | २५६ | स्वप्नद्वयार्चनम् | २०४ |
| मन्त्रानम् | १९९, २००-४ | स्वाध्याययज्ञः | २२७ |
| मन्त्राः | २४४ | स्वानुभवः | २०८ |
| मन्त्राग्रहणम् | १०६ | स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः | १३५ |
| मन्त्रा | २५६ | स्वान्तस्मृत्रम् | १६० |
| स्वप्नमः | ७८ | स्वेच्छाचारस्वभावः | १४६ |
| स्वप्नम् | ९५, १०५, १८६ | हृदयम् | १७७ |
| स्वप्नजगत् | १३५ | हंसः ९१, ९३, ९४, १२७, १३४ | |
| स्वप्नपुरीयः | १६७ | १५७, १९१, २२५-२, २४३ | |
| स्वप्नौजः | १६७ | हंसाचारः | १२४ |

ब्रह्मादमुक्तकान्तानां (१८) उपनिषदामकारादिक्रमः

| संख्या | उपनिषदां नामानि | ईशादिमंख्या | संपुटनाम | पुटमंख्या |
|--------|---------------------|-------------|------------|-----------|
| १. | अक्षमालिकोपनिषत् | ६७ | शैव० | १ |
| २. | अद्वयुपनिषत् | ७२ | सामान्यवे० | १ |
| ३. | अथर्वशिखोपनिषत् | २३ | शैव० | १० |
| ४. | अथर्वशिर उपनिषत् | २२ | शैव० | २० |
| ५. | अद्वयतारकोपनिषत् | ५३ | योग० | १ |
| ६. | अध्यात्मोपनिषत् | ७३ | सामान्यवे० | १२ |
| ७. | अन्नपूर्णोपनिषत् | ७० | सामान्यवे० | २६ |
| ८. | अमृतनादोपनिषत् | २१ | योग० | ११ |
| ९. | अमृतविन्दुपनिषत् | २० | योग० | २६ |
| १०. | अवधूतोपनिषत् | ७९ | सन्न्यास० | १ |
| ११. | अव्यक्तोपनिषत् | ६८ | वैष्णव० | १ |
| १२. | आत्मबोधोपनिषत् | ४२ | सामान्यवे० | १८ |
| १३. | आत्मोपनिषत् | ७६ | सामान्यवे० | १० |
| १४. | आरुण्युपनिषत् | १६ | सन्न्यास० | ९ |
| १५. | एकाक्षरोपनिषत् | ६९ | सामान्यवे० | १०६ |
| १६. | कच्छोपनिषत् | ८३ | सन्न्यास० | १७ |
| १७. | कलिसन्तरणोपनिषत् | १०३ | वैष्णव० | १६ |
| १८. | कालमिन्द्रोपनिषत् | २८ | शैव० | ३९ |
| १९. | कुण्डिकोपनिषत् | ७४ | सन्न्यास० | २७ |
| २०. | कृष्णोपनिषत् | ९६ | वैष्णव० | २१ |
| २१. | कैवल्योपनिषत् | १२ | शैव० | ४६ |
| २२. | कौषीतकिनाम्नोपनिषत् | २५ | सामान्यवे० | १११ |
| २३. | क्षुरिकोपनिषत् | ३१ | योग० | ३६ |

| संख्या | उपनिषदां नामानि | ईशादिसंख्या | संपुटनाम | पुटसंख्या |
|--------|--------------------------------|-------------|------------|-----------|
| २४. | गणपत्युपनिषत् | ८९ | शैव० | ५८ |
| २५. | गरुडोपनिषत् | १०२ | वैष्णव० | ३२ |
| २६. | धर्मोपनिषत् | १७ | सामान्यवे० | १६८ |
| २७. | गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत् | ९५ | वैष्णव० | ४१ |
| | गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत् | ९५ | वैष्णव० | ५८ |
| २८. | जाबालोपनिषत् | १३ | संन्यास० | ३८ |
| २९. | जाबाल्युपनिषत् | १०४ | शैव० | ६५ |
| ३०. | तारसारोपनिषत् | ९१ | वैष्णव० | ७८ |
| ३१. | तुरीयातीतावधूतोपनिषत् | ६४ | संन्यास० | ५१ |
| ३२. | तेजोविन्दूपनिषत् | ३७ | योग० | ४५ |
| ३३. | त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत् | ५२ | वैष्णव० | ८६ |
| ३४. | त्रिपुरातापिन्युपनिषत् | ८० | शाक्त० | ११ |
| ३५. | त्रिपुरोपनिषत् | ८२ | शाक्त० | १ |
| ३६. | त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् | ४४ | योग० | ११६ |
| ३७. | दत्तात्रेयोपनिषत् | १०१ | वैष्णव० | १५९ |
| ३८. | दर्शनोपनिषत् | ९० | योग० | १५२ |
| ३९. | दक्षिणामूर्त्युपनिषत् | ४९ | शैव० | ७० |
| ४०. | देव्युपनिषत् | ८१ | शाक्त० | ५३ |
| ४१. | ध्यानविन्दूपनिषत् | ३९ | योग० | १८६ |
| ४२. | नादविन्दूपनिषत् | ३८ | योग० | २१४ |
| ४३. | नारदपरिव्राजकोपनिषत् | ४३ | संन्यास० | ५५ |
| ४४. | नारायणोपनिषत् | १८ | वैष्णव० | १६७ |
| ४५. | निरालम्बोपनिषत् | ३४ | सामान्यवे० | १८१ |
| ४६. | निर्वाणोपनिषत् | ४७ | संन्यास० | १३४ |
| ४७. | नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् | २७ | वैष्णव० | १७४ |
| | नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् | २७ | वैष्णव० | २२३ |
| ४८. | फल्गुनोपनिषत् | ९३ | शैव० | ७९ |
| ४९. | परब्रह्मोपनिषत् | ७८ | संन्यास० | १४९ |
| ५०. | परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् | ६६ | संन्यास० | १६१ |
| ५१. | परमहंसोपनिषत् | १९ | संन्यास० | १७१ |
| ५२. | पाण्डुराजोपनिषत् | ७७ | शैव० | २२७ |
| ५३. | पञ्चमोपनिषत् | ५९ | सामान्यवे० | १९२ |

| संख्या | उपनिषदां नामानि | ईशादिसंख्या | संपुटनाम | पुटसंख्या |
|--------|--------------------------|-------------|------------|-----------|
| ५४. | प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् | ९४ | सामान्यवे० | २१७ |
| ५५. | बृहद्वचोपनिषत् | १०७ | शाक्त० | ६१ |
| ५६. | बृहज्जाबालोपनिषत् | २६ | शैव० | ८७ |
| ५७. | ब्रह्मविद्योपनिषत् | ४० | योग० | २४९ |
| ५८. | ब्रह्मोपनिषत् | ११ | संन्यास० | १७७ |
| ५९. | भस्मजाबालोपनिषत् | ८७ | शैव० | १२९ |
| ६०. | भावनोपनिषत् | ८४ | शाक्त० | ६८ |
| ६१. | भिक्षुकोपनिषत् | ६० | संन्यास० | १९० |
| ६२. | मण्डलब्राह्मणोपनिषत् | ४८ | योग० | २७३ |
| ६३. | मन्त्रिकोपनिषत् | ३२ | सामान्यवे० | २२५ |
| ६४. | महावाक्योपनिषत् | ९२ | योग० | ३०१ |
| ६५. | महोपनिषत् | ६१ | सामान्यवे० | २३४ |
| ६६. | मुक्तिकोपनिषत् | १०८ | सामान्यवे० | ३४५ |
| ६७. | मुद्रलोपनिषत् | ५७ | सामान्यवे० | ३७८ |
| ६८. | मैत्रायण्युपनिषत् | २४ | सामान्यवे० | ३८८ |
| ६९. | मैत्रेय्युपनिषत् | २९ | संन्यास० | १९३ |
| ७०. | वाङ्मन्त्र्युपनिषत् | ९७ | संन्यास० | २१३ |
| ७१. | योगकुण्डल्युपनिषत् | ८६ | योग० | ३०७ |
| ७२. | योगवृद्धामण्युपनिषत् | ४६ | योग० | ३३७ |
| ७३. | योगतत्त्वोपनिषत् | ४१ | योग० | ३६३ |
| ७४. | योगशिखोपनिषत् | ६३ | योग० | ३९० |
| ७५. | रामपूर्वतापिन्धुपनिषत् | ५५ | वैष्णव० | ३०५ |
| | रामोत्तरतापिन्धुपनिषत् | ५५ | वैष्णव० | ३२६ |
| ७६. | रामरहस्योपनिषत् | ५४ | वैष्णव० | ३४४ |
| ७७. | रुद्रह्योपनिषत् | ८५ | शैव० | १४८ |
| ७८. | रुद्राष्टाशतश्लोकोपनिषत् | ८८ | शैव० | १५६ |
| ७९. | वज्रसूक्तिकोपनिषत् | ३६ | सामान्यवे० | ४१६ |
| ८०. | कराहोपनिषत् | ९८ | योग० | ४६४ |
| ८१. | वासुदेवोपनिषत् | ५६ | वैष्णव० | ३७५ |
| ८२. | शरभोपनिषत् | ५० | शैव० | १६६ |
| ८३. | शाठ्यायनीयोपनिषत् | ९९ | संन्यास० | २२२ |
| ८४. | शाण्डिल्योपनिषत् | ५८ | योग० | ५१८ |

| संख्या | उपनिषदां नामानि | ईशादिसंख्या | संपुटनाम | पुटसंख्या |
|--------|------------------------|-------------|------------|-----------|
| ८५. | शारीरकोपनिषत् | ६२ | सामान्यवे० | ४२३ |
| ८६. | शुक्लरहस्योपनिषत् | ३५ | सामान्यवे० | ४२९ |
| ८७. | भेताभूतरोपनिषत् | १४ | शैव० | १७५ |
| ८८. | सन्न्यासोपनिषत् | ६५ | सन्न्यास० | २३६ |
| ८९. | सतस्वतीरहस्योपनिषत् | १०६ | शाक्त० | ७४ |
| ९०. | सर्वमारोपनिषत् | ३३ | सामान्यवे० | ४४४ |
| ९१. | सावित्र्युपनिषत् | ७५ | सामान्यवे० | ४५५ |
| ९२. | सीतोपनिषत् | ४५ | शाक्त० | ८९ |
| ९३. | मुवालोपनिषत् | ३० | सामान्यवे० | ४६० |
| ९४. | सूर्योपनिषत् | ७१ | सामान्यवे० | ५०२ |
| ९५. | सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् | १०५ | शाक्त० | १०५ |
| ९६. | स्कन्दोपनिषत् | ५१ | सामान्यवे० | ५०८ |
| ९७. | हयग्रीवोपनिषत् | १०० | वैष्णव० | ३८३ |
| ९८. | हंसोपनिषत् | १५ | योग० | ५५९ |

